आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक ९-१०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष-माघ
२४७५

सुराष्ट्र की एकता

गुण-पर्याय का जो पिंड है, वह आत्मा का स्वद्रव्य है; असंख्यात-प्रदेशीपना, आत्मा का स्वक्षेत्र है; आत्मा में प्रतिसमय होनेवाली पर्यायें, उसका स्वकाल है और त्रैकालिक शक्तियाँ, आत्मा का स्वभाव है-इसप्रकार सुराष्ट्रस्वरूप आत्मा का अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ सदैव, सर्वथा ऐक्य है। वह ऐक्य जिसने साध्य किया है, वह सर्वप्रकार में सुखी है। वह किसी भी पर-पदार्थ के साथ ऐक्य करने की इच्छा नहीं करता, कारण कि पर के साथ ऐक्य हो ही नहीं सकता, और इसीसे उसप्रकार की इच्छा में भी खेद-खिन्नता है।

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ऐक्य ही मोक्षमार्ग है, और उसकी पूर्णता मोक्ष है।

पर के साथ ऐक्य हो ही नहीं सकता, तथापि अज्ञानभाव से ऐक्य करने की मान्यता करके जीव अनादिकाल से दुःखी हो रहा है। उस दुःख को दूर करने के लिये, अनन्त गुण जिसका त्रिकाल समाज है-ऐसे भगवान आत्मा की सेवा प्रत्येक जीव को निरंतर करना चाहिये।

४५ – ४६

जिज्ञासुओं को सूचना:—परमपूज्य श्री कानजी स्वामी माघ शुक्ला ९ सोमवार के दिन सोनगढ़ से विहार करेंगे। अनेक जिज्ञासु यहाँ स्वामीजी की वाणी का लाभ लेने को दूर-दूर से आते हैं। आनेवाले भाईयों को विदित हो कि विहार काल में भोजनालय और पुस्तकें बिक्री विभाग बंद रहेगा, अतएव पुस्तकें आदि न मंगायें। स्वाध्यायमंदिर-सोनगढ़

एक अंक चार आना

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

अ ने का न्त मु द्र णा ल य—मो टा आं क ड़ि या—का ठि या वा ड़

श्री परमात्म-प्रकाश-प्रवचन

[अंक ४४ से आगे]

[परमात्म-प्रकाश शास्त्र पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यानों का संक्षिप्त सार]

(गाथा १)

[१९] नयों के प्रकार और उनके विषय

आत्मा का जो त्रैकालिक परम पारणामिकस्वभाव है, उसके ध्यान द्वारा ही राग-द्वेष विकार नष्ट होता है। रागादिभाव स्व में हैं, इससे 'निश्चय' है, किन्तु वह विकार हैं, इससे 'अशुद्ध-निश्चय' है। विकारभाव थे और दूर हुए, इसका जो ज्ञान हुआ वह 'अशुद्ध निश्चयनय' है। किन्तु उस अशुद्ध निश्चयनय के आलम्बन से विकार दूर नहीं हुआ है; शुद्ध स्वभाव के ज्ञाता निश्चयनय के आलम्बन से विकार का नाश हुआ है। वैसे ही ध्यान से कर्म नष्ट हुए, उसे जानना, सो असद्भूत-अनुपचरित व्यवहारनय है। असद्भूत अर्थात् आत्मा में वे कर्म नहीं हैं; अनुपचरित अर्थात् वे आत्मा के साथ एकक्षेत्र में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाले हैं, और आत्मा से पर हैं; इसलिये व्यवहार है। इसको जानना, सो असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय है।

ज्ञान की जो पर्याय त्रैकालिक शुद्धस्वभाव को और वर्तमान पर्याय को जाने, वह प्रमाणज्ञान है और उसमें से मात्र त्रैकालिक शुद्धस्वभाव को जाने, वह शुद्ध निश्चयनय है तथा उसका आश्रय ही कर्मों को दूर करने का उपाय है; और जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उसे जानना, सो एकदेश शुद्ध निश्चयनय है, यहाँ उसे अशुद्धनय में समाविष्ट कर दिया है। रागादि विकार हैं, उस पर्याय को जानना सो 'अशुद्ध निश्चयनय' है। और कर्म दूर हुए, इसे जानना, सो असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय है। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते और पूर्णज्ञान में भी नय नहीं होते; नय तो साधक के होते हैं। साधक जीव को प्रमाणज्ञान के पश्चात् नय तो एक के बाद एक ही होता है, एकसाथ सब नय नहीं होते। जब वह साधक जीव द्रव्यस्वभाव को जानने में रुके, उस समय उसके शुद्ध निश्चयनय प्रवर्तमान होता है, और जब विकार को जानता है, तब अशुद्धनिश्चयनय प्रवर्तमान होता है। कर्म दूर हुए-ऐसा जानना, सो अनुपचरित व्यवहारनय है और घर-मकानादि दूर हुए, उसे जानना, सो वह तो उपचरित व्यवहारनय है-उपचरित अर्थात् आत्मा के साथ उसका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध नहीं है, वह तो दूर ही है।

वास्तव में अध्यात्मनयों से राग-द्वेष को आत्मा का कहना, सो भी उपचारनय है, क्योंकि

वह आत्मा का स्वभाव नहीं है और मोक्षपर्याय भी सद्भूत व्यवहार है। मात्र त्रैकालिक परमशुद्ध अभेदस्वभाव ही शुद्ध-निश्चयनय का विषय है; उसमें बंध-मोक्ष भी नहीं हैं।

प्रश्न :—नय के ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ?

उत्तर :—कदाचित् किसी ज्ञानी को नय के शब्दों का ज्ञान नहीं हो, किन्तु उसके विषय का ज्ञान तो होता ही है। अनेकप्रकार के पक्षों से जो गृहीतमिथ्यात्वरूप विपरीत मान्यता को पकड़ रखा है, वह सम्यक्ज्ञान के अनेक पक्षों को जाने बिना (अर्थात् नयों के ज्ञान के बिना) दूर नहीं होगी। नयों के अनेकप्रकार समझने से ज्ञान की निर्मलता भी बढ़ती है।

जो निर्मलपर्याय, द्रव्य का विषय करती है, वह पर्याय भी शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय में अभेदरूप से समाविष्ट हो गई है। वहाँ द्रव्य-पर्याय एकाकार हो गये हैं। जहाँ नय होते हैं, वहाँ मुख्यता-गौणता होती ही है। यदि मुख्य-गौण न हो तब, या तो पूर्णज्ञान हो जाता है, नहीं तो एकांतरूप मिथ्याज्ञान होता है। साध्धक जब द्रव्यस्वभाव को जानता है, तब उसके शुद्ध द्रव्यार्थिकनय प्रवर्तमान होता है; उससमय पर्याय गौण है; और जब रागादि को जानता है तथा शुद्धद्रव्य का ज्ञान गौण होता है,-उससमय अशुद्ध निश्चयनय (अशुद्धद्रव्यार्थिकनय) प्रवर्तमान होता है। नयों का ज्ञान, सो शुद्धता की प्राप्ति और वृद्धि का ही कारण है। साधक की पर्याय प्रतिक्षण बदलती जाती है, उसमें पर्याय-पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होती रहती है; यदि पर्याय बदलती जाये और शुद्धता में वृद्धि न हो तो शुद्ध सिद्धदशा का साधक कैसे कहलाये ?

[२०] द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार तथा उन पर लागू होनेवाले नय

यहाँ पर ग्रन्थकार कहता है कि शुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानमय सिद्धों को नमस्कार करके मैं यह ग्रन्थ लिखता हूँ। यहाँ जो नमस्काररूप वचन हैं, सो द्रव्यनमस्कार है, और सिद्धात्मा के केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का स्मरण करनेरूप जो भाव हैं, सो वह भावनमस्कार है। अनन्त गुणों का स्मरण कौन कर सकता है ? जिसने अनन्तगुणस्वरूप आत्मा को पहिचाना हो, वैसा सम्यग्ज्ञानी जीव अनन्तगुण का स्मरण कर सकता है। जो शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है और भावनमस्कार का विकल्प है-उन दोनों को यहाँ अशुद्धनिश्चयनय का विषय माना है। अंशमात्र शुद्धता, सो त्रिकाल स्वभाव नहीं है, इसलिये अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। वाणी से नमस्कार करना, सो असद्भूत व्यवहारनय का विषय है।

जो शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है, उसे 'द्रव्यसंग्रह' में तो भावनमस्कार कहा है और उसे

एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय माना है। जैसा सिद्ध का स्वरूप है, वैसा ही अपने ज्ञान में यथार्थ जानकर स्वत: जितने अंश में स्वभाव की ओर उन्मुख हो, उतना ही भावनमस्कार है, तथा विकल्प एवं वाणी, सो द्रव्यनमस्कार है। इस ग्रन्थ की कथनशैली में द्रव्यसंग्रह से भिन्न अपेक्षा है।

शुद्धनिश्चयनय के विषय में तो वंद्य-वंदक भाव के भेद ही नहीं हैं। वंद्य-वंदक भाव अशुद्धनय का विषय है। यहाँ जो अंशत: शुद्धता प्रगट हुई है, उसे अशुद्धता के साथ अभेद मानकर अशुद्धनय के विषय में ही गिना है। और द्रव्यसंग्रह में उसे शुद्धता की विवक्षा से एकदेश शुद्धनिश्चयनय का विषय गिना है।

[२१] पाँच प्रकार से शास्त्रों का अर्थ समझने की रीति

पहली गाथा में सिद्ध भगवान को नमस्कार करते हुए उनके स्वरूप को बतलाया है। यहाँ शास्त्र को समझने के लिए पाँच प्रकार से अर्थ करना कहते हैं:-शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ।

पहली गाथा में निम्नानुसार पाँच प्रकार है:—

(१) शब्दार्थ इसप्रकार है:—'जो ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मकलक को भस्म करके नित्य-निरंजन ज्ञानमय हुए हैं, उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।'

(२) नयार्थ इसप्रकार है:—शुद्धनिश्चयनय से आत्मा परमानन्दस्वरूप है; रागादि दूर हुए वह अशुद्धनिश्चयनय का विषय है। कर्म दूर हुए वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय है। इसप्रकार प्रत्येक स्थान पर नय से समझना चाहिये। यदि नयों को न समझे तो वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता। सभी में नय लागू होते हैं, क्योंकि नय तो ज्ञान है। कौन से पदार्थ को जानने में ज्ञान नहीं होता? प्रत्येक ज्ञेय को जानने में ज्ञान तो होता ही है, और यथार्थ ज्ञान में साधक के नय होते ही हैं।

'ज्ञानावरणी कर्म ने ज्ञान को रोका'—ऐसा वाक्य हो वहाँ 'ज्ञानावरणीय नाम का जड़कर्म है, 'उसने ज्ञान को रोका'-ऐसा शब्दार्थ है। ज्ञानावरण जड़ है और ज्ञान जीव की पर्याय है; परद्रव्य ज्ञान को रोके-ऐसा कहा है-इसलिये वह व्यवहारकथन है। दो द्रव्यों का सम्बन्ध बतलाया है, इसलिये व्यवहारनय का कथन है। प्रत्येक विषय को भेदकर ज्ञान बराबर जानता है। 'नय' लागू करना, सो ज्ञान का पेच (युक्ति) है। जैसे ताला खोलने के लिये चाबी का पेच लागू होता है, वैसे ही शास्त्रों के सच्चे रहस्य को खोलने के लिये नय लागू होते हैं। नयार्थ को समझे बिना चरणानुयोग

का कथन भी समझ में नहीं आता। गुरु का उपकार मानने का कथन आये, वहाँ समझना चाहिये कि गुरु परद्रव्य है, इसलिये वह व्यवहार का कथन है, वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय है। चौथी गाथा में ग्रन्थकार बतलायेंगे कि असद्भूत का अर्थ 'मिथ्या' होता है।

यह पाँच प्रकार से शास्त्रों का अर्थ करने की बात पंचास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह, समयसार आदि शास्त्रों की टीका में भी आती है। यदि किसी शास्त्र में वह न कही हो तो भी प्रत्येक शास्त्र के प्रत्येक कथन में इन पाँच प्रकारों को लागू करके उसका भाव समझना चाहिये। [अपूर्ण]

आत्मा स्वतः ही ज्ञान और सुखरूप होता है, उसे इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है!

(गतांक से आगे)

[१५] आचार्यदेव के कथन में अस्ति-नास्ति

इन सैंतीस अक्षरों में केवलज्ञान का बीज विद्यमान है। इस गाथा में ज्ञान और आनंदरूप जो आत्मस्वभाव बताया है, उसमें से ही केवलज्ञान प्रगट होना है। अन्यत्र कहीं से नहीं आना है। आचार्य भगवान अस्ति-नास्ति दोनों प्रकार का कथन एक ही साथ करते हैं। पहले ऐसा कहा कि—भगवान आत्मा अपने शुद्धोपयोग में लीन हुआ, वहाँ कर्मों का सम्बन्ध टूट गया। वहाँ शुद्धोपयोग की अस्ति और कर्मों की नास्ति बताई है। दूसरे बोल में कहा है कि अतीन्द्रियज्ञान-दर्शनरूप परिणमित हुआ, वहाँ क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का सम्बन्ध टूट गया, इसमें परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अस्ति और अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की नास्ति बताई है। कथन में क्रम होता है किन्तु एक ही समय के भाव में यह सब हो जाता है।

[१६] इसमें धर्म किसप्रकार आया ?

यह केवली भगवान के लिये बात नहीं है, 'केवलज्ञानदशा ऐसी है, और शुद्धोपयोग के

सामर्थ्य से इसप्रकार वह होती है'—ऐसा विश्वास किसके ज्ञान में होता है ? जीव के अपने ज्ञान में विश्वास होता है। जिसके ज्ञान में ऐसा विश्वास हुआ, उसका ज्ञान, विकार से छूटकर स्वभाव में परिणमन करने लगा अर्थात् वह जीव स्वत: केवलज्ञान और मुक्ति की ओर परिणमित होने लगा, यही धर्म है। मेरा स्वभाव पर से भिन्न है और इन्द्रियों के बिना ही मेरा ज्ञान और सुख होता है-ऐसा निश्चित किया, वहाँ स्वभाव की ओर उन्मुख होने का ही आचरण रहा, और विकार से विमुख हो गया। ऐसी प्रतीति के भावोंसहित यह कथन है। वास्तव में अपने जिस ज्ञान में केवली भगवान की और अतीन्द्रिय स्वभाव की पहिचान और प्रतीति हुई, उस ज्ञान की महिमा है।

आत्मा की पूर्णदशा में अपूर्णज्ञान के साथ संपर्क (सम्बन्ध) नहीं है और इन्द्रियों का आलंबन भी नहीं है, वहाँ स्वभाव से ही अतीन्द्रियज्ञान और सुखरूप आत्मा का परिणमन हो गया है-ऐसी स्वभाव की बात जिसकी समझ में आती है, उसे 'इन्द्रियाँ, विकार अथवा अपूर्णज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है किन्तु मैं पूर्ण-निर्विकार ज्ञानस्वभाव ही हूँ'—ऐसी सम्यक्प्रतीति होती ही है। इसप्रकार सम्यक्प्रतीतिसहित अनुभव होने पर, आत्मा के ओर की जागृति का शुद्धोपयोग होता ही है। 'मुझसे यह नहीं होता' ऐसा नहीं मानना। समस्त आत्माओं से यह हो सकता है और यही करने योग्य है, इसलिये बराबर प्रयत्न करके यह समझना चाहिये।

[१७] अपूर्ण और पूर्ण के बीच कितना विरह ?

पूर्णस्वभाव की स्वीकृति और अपूर्णता की अस्वीकृति—ऐसी सम्यक्प्रतीति के बल से शुद्धोपयोग होता है, और इस शुद्धोपयोग के बल से केवलज्ञान होता है। कोई कहे कि इस समय तो पूर्णता नहीं है, अपूर्ण और पूर्ण के बीच कितना विरह है ? उसका उत्तर-अरे भाई! विरह कैसा! अपूर्ण स्वयं जहाँ पूर्ण स्वभाव में लीन हो गया, वहाँ अपूर्ण और पूर्ण के बीच अंतर ही नहीं है। पहले जब अपूर्णज्ञान, पर्यायदृष्टि में रुकता था, तब अपूर्ण और पूर्ण के बीच अंतर था, किन्तु अब वह अपूर्णता का ही निषेध करके-पर्यायदृष्टि छोड़ कर पूर्णस्वभाव में ही एकाग्र हो गया, वहाँ अपूर्ण और पूर्ण अभेद हो गये, विरह टूट गया। पर्यायदृष्टि से पूर्णता प्रतिभासित नहीं होती थी, किन्तु स्वभाव में एकाग्र होकर द्रव्यदृष्टि से देखा, वहाँ पूर्णस्वभाव ही भासित होता है, अपूर्णता भासित नहीं होती। अपूर्णदशा और पूर्णदशा ऐसा भी तो पर्याय की अपेक्षा से है, किन्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से देखे तो प्रतिसमय पूर्णता ही है, ऐसे स्वभाव के ओर की उन्मुखता में केवलज्ञान के साथ विरह है ही कहाँ ? द्रव्यस्वभाव, केवलज्ञान से परिपूर्ण है। यदि द्रव्यस्वभाव का विरह हो तो केवलज्ञान का विरह हो।

यदि कोई जीव अपने आत्मस्वभाव का भान करके एकावतारी हो और सर्वार्थसिद्धि देवलोक में जाये, तथा वहाँ अपने ज्ञान में ऐसा जाने कि केवलज्ञान होने के लिये तेतीस सागरोपम की देर है। तो वहाँ उसने यथार्थ परिपूर्ण स्वभाव में रहकर तेतीस सागरकाल की स्थिति को जाना है, अर्थात् अपने निर्मल ज्ञान को केवलज्ञान की ओर बढ़ाकर विरह को तोड़ डाला है। कालभेद को तोड़कर भविष्य के केवलज्ञान को वर्तमान में ही जानता है। परमार्थ से तो स्वभाव के आश्रय से उसका ज्ञान-सामर्थ्य ही केवलज्ञान की ओर आगे बढ़ा है और बीच के तेतीस सागर की समस्त दशाओं का ज्ञाता हो गया है। जिसे अपनी पूर्ण शक्ति की प्रतीति हुई है, उस जीव के पूर्ण स्वभाव की ही मुख्यता होती है, किन्तु तेतीस सागर के काल पर मुख्यदृष्टि नहीं होती। अपनी श्रद्धा में पूर्ण स्वभाव की मुख्यता प्रगट की, वही सुप्रभात है।

[१८] सुप्रभात का सच्चा सबरस

आज मांगलिक में सुप्रभात का 'सबरस' आया है। लोग मीठा (नमक) को याद करते हैं और ज्ञानियों के सादि-अनन्तकाल की पूर्णानन्दमय निरुपाधिक दशा की स्मृति जागती है। पूर्णदशा होने पर 'सब' में (समस्त पदार्थों में) ज्ञान का प्रवेश होता है और आनन्द का 'रस' होता है, इससे वही 'सबरस' है, और आत्मा के सुप्रभात में वही 'सबरस' अंगीकार करने योग्य है।

[१९] निर्विघ्न विकसित उत्तम आत्मवीर्य

पहले कहा था कि—शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से घातिकर्म क्षय हुए। चार घातिया कर्मों का क्षय होकर आत्मा में क्या उदित हुआ? वह अब बतलाते हैं। 'समस्त अन्तराय का नाश हो जाने से अनन्त उत्तम जिसका वीर्य है—ऐसा यह आत्मा स्वयमेव ज्ञान और सुख होकर परिणमन करता है।' आत्मा की समस्त कार्यशक्ति में वीर्यबल प्रधान है; इसलिये पहले उसकी बात की है। शुभभाव हो, अशुभभाव हो, अथवा शुद्धभाव हो-उसमें आत्मा का वीर्यबल ही कार्य करता है। कोई भी पर्याय, आत्मा के पुरुषार्थ बिना नहीं होती। पहले ज्ञान-दर्शन न लेकर वीर्य को लिया है क्योंकि वीर्य अर्थात् आत्मबल से ही केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है। शुद्धोपयोग का सामर्थ्य पूर्ण होने पर आत्मशक्ति निर्विघ्नरूप से विकसित हो गई और अन्तराय का नाश हो गया। अब आत्मशक्ति में कोई विघ्न नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा क्या मंगल होता है?

अपूर्ण दशा के समय भी कहीं कर्म आत्मा के वीर्य को नहीं रोकते थे, किन्तु आत्मा स्वतः अपूर्ण पुरुषार्थ में रुकता था, इसलिये उसे अन्तराय कर्म निमित्तरूप था। अब शुद्धोपयोग के द्वारा

आत्मा के आनन्दकन्द स्वभाव में लीनता होने से अन्तरायकर्म के साथ के निमित्तसम्बन्ध को भी तोड़कर निर्विघ्न अनंत आत्मशक्ति प्रगट हुई है। पहले जो आत्मशक्ति विकार में रुकती थी और अपूर्ण परिणमित होती थी, वह अब अपने स्वभाव में पूर्णरूप से परिणमित होने लगी। यहाँ वीर्य के साथ 'उत्तम' विशेषण लगाया है। समस्त आत्माओं में पुरुषार्थ तो है किन्तु उत्तम पुरुषार्थ उसे कहते हैं जो आत्मस्वभाव का आश्रय करके केवलज्ञान प्राप्त कराये। शुद्धोपयोग के पुरुषार्थ में जो वीर्य लग गया, वह उत्तम वीर्य हो गया। चाहे जितने उच्च शुभभाव का पुरुषार्थ करे तो भी उसे उत्तम वीर्य नहीं कहते। किन्तु जिस पुरुषार्थ के द्वारा स्वभाव का कार्य हो, वही उत्तम वीर्य है। फिर यहाँ पूर्णदशा के उत्तम वीर्य को 'अनन्त' विशेषण लगाया है। पूर्णदशा में जो निर्विघ्न उत्तम वीर्य प्रगट हुआ है, वह काल से तो अनन्त है, परन्तु उसमें वर्तमान में ही अनन्त सामर्थ्य है। साधकदशा का जो उत्तम वीर्य है, वह काल से अनन्त नहीं है, वैसे ही पूर्णदशा का अनन्त सामर्थ्य भी उसमें नहीं है। स्वभाव का पुरुषार्थ ही उत्तम वीर्य है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान, यह कोई पुरुषार्थ के बिना प्राप्त नहीं होते, इसलिये पहले ही पुरुषार्थ वर्णित किया है। स्वभाव में से जो उत्तम और अपार वीर्य प्रगट होता है, वह ज्ञान-आनन्द इत्यादि समस्त गुणों को पूर्णतया स्थिर करके प्रगट हुआ है। आत्मा की पूर्णज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण दशा प्रगट होने पर फिर अवतार नहीं होता। सदैव स्वयं अपने ज्ञान और आनन्द में ही विराजमान रहता है-यही सुप्रभात है, और यही सादि-अनन्तकाल का नूतनवर्ष है।

[२०] साधक की भावना

नूतनवर्ष के प्रारंभ में बहीखाते में अधिकांश लोग ऐसी भावना लिखते हैं कि बाहुबलीजी का बल हमें प्राप्त हो। आत्मबल का भान नहीं है, इसलिये शरीर के बल की भावना करता है। बाहुबली जैसा बल प्राप्त करके क्या किसी के साथ लड़ना है ? और फिर 'शालिभद्र की ऋद्धि हमें प्राप्त हो, ऐसा लिखते हैं। देखो तो भला, तृष्णा को कितना बढ़ाते हैं ? स्वभाव का भान न होने से संयोग की भावना करते हैं। किन्तु अपने चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर ऐसी भावना कर कि सिद्ध-आत्मा को जो बल प्रगट हुआ है, वह आत्मबल हमें प्रगट हो। सिद्धभगवान के जो ज्ञान और आनंद की ऋद्धि प्रगट हुई है, उस ऋद्धि की हमें शीघ्र प्राप्ति हो, वही हमारी यथार्थ ऋद्धि है। पूर्णदशा के परिपूर्ण आत्म-सामर्थ्य को अपने ज्ञान में लेकर साधक जीव भावना करता है कि मैं कटिबद्ध होकर मोह का नाश करने के लिये तैयार हुआ हूँ। अपने स्वभाव की उग्रता द्वारा मोह-

अस्थिरता का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करूँ—ऐसी शक्ति मुझमें विद्यमान है।

इसप्रकार पूर्णदशारूपी सुप्रभात में अनंत उत्तम वीर्य प्रगट होने की बात है। अब केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होने की बात करते हैं। ज्ञान, दर्शन, वीर्य और आनंद यह अनंतचतुष्टय तो एक ही साथ प्रगट होता है, उसके प्रगट होने में कहीं क्रम नहीं है, किन्तु कथन में क्रम आता है।

[२१] केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्रगटता

'समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का प्रलय हो जाने के कारण जिसका अधिक केवलज्ञान और केवलदर्शन नाम का तेज है-ऐसा यह (स्वयंभू) आत्मा स्वयमेव ज्ञान और सुखरूप होकर परिणमन करता है।' जहाँ आत्मा के ज्ञान और दर्शनस्वभाव में लीन होकर पूर्ण शुद्धरूप से परिणमित हुआ, वहाँ कर्म का प्रलय ही है। जो त्रैकालिक शुद्धस्वभाव है, उसमें उपयोग की एकाग्रता से ही साधकदशा प्रगट होकर पूर्णता होती है। पर्याय में जो कुछ भी पवित्रता होती है, वह पूर्णस्वभाव के आश्रय से ही होती है। ऐसे स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान किया था, उसके फल में चैतन्य का जो सबसे अधिक केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपी तेज है, वह प्रगट हुआ है। जिसप्रकार अंधकार को दूर करके प्रातःकाल होते ही नेत्र खुल जाते हैं; वैसे ही चैतन्यशक्ति का संपूर्ण विकास होने पर अपूर्णज्ञान का नाश हुआ तथा केवलज्ञान और केवलदर्शनरूपी दो नेत्र खुल गये, उनसे आत्मस्वभाव के अपूर्ण सामर्थ्य को प्रत्यक्ष जान लिया और लोकालोक को भी प्रकाशित कर लिया। अब ज्ञान-दर्शन में एक समयमात्र की भी निद्रा नहीं रही। जिनके ज्ञान और दर्शनरूपी चक्षु खुल गये हैं, उनके ही सुप्रभात है। केवलज्ञान और केवलदर्शन का तेज अधिक है-उत्कृष्ट है। मति-श्रुत-अवधि और मनःपर्ययज्ञान से अथवा चक्षु-अचक्षु या अवधिदर्शन से इसका तेज अनंतगुना है। स्वयमेव आत्मा मात्र ज्ञान-दर्शनरूपी परिणमन करने लगा, वह अन्य सबसे निरपेक्ष है। जो जीव अपने ज्ञानदर्शन स्वभाव को निरपेक्ष स्वीकार करता है, जानता है, अनुभव करता है, उसको ही स्वाश्रय से ज्ञान-दर्शन का विकास होकर पूर्णता प्रगट होती है।

[२२] इन्द्रियों के बिना ही ज्ञान और आनंद का होना

इसप्रकार उत्तम वीर्य तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होने की बात की। अब सुख को भी साथ लेकर कहते हैं। 'ऐसा वह स्वयंभू आत्मा, समस्त मोहनीय के अभाव को लेकर अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वभाववाले आत्मा का अनुभवन करता हुआ स्वयमेव (स्वतः ही) स्व-परप्रकाशकतालक्षण ज्ञान और अनाकुलतालक्षण सुख होकर परिणमन करता है।' अपने

शुद्धोपयोग के बल से स्वचतुष्टयरूप हुआ आत्मा स्वतः ज्ञान और आनंदस्वरूप ही हो गया है, अपना स्वरूप ही ज्ञान और आनंद है, उसमें कौनसा विघ्न हो सकता है? इन्द्रियों के बिना ही आत्मा में ज्ञान और सुखरूप परिणमन है। ज्ञान और आनंद तो स्वभाव में से प्रगट होते हैं, कहीं इन्द्रियों से प्रगट नहीं होते। जिस स्वभाव में से ज्ञान और आनंद प्रगट होते हैं, उस स्वभाव की यदि स्वानुभव से श्रद्धा करे तो इन्द्रियरहित स्वाभाविक सुख का वर्तमान में अपने को अनुभव हो और इन्द्रियों में से सुखबुद्धि हट जाये। पूर्णज्ञान और सुख के लिये यही सर्वप्रथम उपाय है। अपने अतीन्द्रियस्वभाव को जाने बिना और अनुभवन किये बिना कभी भी इन्द्रियों में से सुखबुद्धि दूर नहीं होती, अर्थात् मिथ्यात्व दूर नहीं होता और धर्म नहीं होता, तथा उसका वैराग्य भी यथार्थ नहीं होता। सत्स्वभाव को समझे, उसे सहज में ही इन्द्रियविषयों के प्रति यथार्थ वैराग्य होता है। अपने स्वभाव में ही ज्ञान और आनन्द है, जो उसकी प्रतीत व अनुभव नहीं करता और बाह्य में ही इन्द्रियादि के द्वारा ज्ञान-आनन्द प्राप्त करना चाहता है, वह जीव, मिथ्यात्व से सदा व्याकुल रहा करता है। मेरा ज्ञान अथवा सुख कहीं बाह्य के अवलम्बन से नहीं होता किन्तु मैं स्वतः ज्ञान और सुखरूप होता हूँ-इसप्रकार स्वभाव के सन्मुख होकर शुद्धोपयोग से जहाँ भगवान आत्मा अपने में लीन हुआ, वहाँ अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्यभाव का अनुभवन करता हुआ वह आत्मा स्वतः ही ज्ञान और सुखरूप हो जाता है। चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ ठीक हों और स्पर्श, रस इत्यादि पदार्थ अच्छे हों तो उनके कारण कहीं जीव के ज्ञान और सुख नहीं होता; किन्तु शुद्धोपयोग के द्वारा अपने स्वरूप में एकाग्रता करने से ही ज्ञान और सुख होता है। उस समय इन्द्रियों और उनके विषयों की ओर लक्ष्य भी नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव ही अत्यन्त शुद्ध चैतन्यरूप है, ऐसे अपने आत्मा के अनुभव से ज्ञान और सुख होता है। ज्ञान कैसा है? स्व-परप्रकाशक है। किसी भी अन्य की सहायता के बिना आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं स्व को और पर को यथार्थतया जानता है। और सुख कैसा है? अनाकुलतारूप है, जिसमें किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं है, किन्तु निजस्वरूप के उपभोग से ही तृप्त है।

ऐसा इन्द्रियातीत ज्ञान और सुख, आत्मा का स्वभाव है। जड़ पदार्थ अथवा इन्द्रियाँ इत्यादि कोई भी अपने को या पर को नहीं जानते क्योंकि उनमें ज्ञानस्वभाव नहीं है। आत्मा में ज्ञानस्वभाव है, इससे वह स्वतः ही ज्ञानरूप परिणमित होकर स्व को और पर को जानता है। जिसप्रकार

अंधकारमय कोठरी में रहनेवाला मनुष्य अंधेरे को और अपने को जानता है, किन्तु कहीं अंधेरा नहीं जानता। वैसे ही देह में रहनेवाला चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वत: अपने को और पर को जानता है, किन्तु देह और इन्द्रियाँ नहीं जानते। प्रथम भेदज्ञान द्वारा अभेद ज्ञानस्वभाव को स्वतंत्र जानकर उसमें एकाग्रता करने से स्व-परप्रकाशकता लक्षणवाला ज्ञान जितनी सीमावाला है, उतनी सीमा तक वह संपूर्ण परिणमित हो गया और अनाकुलता लक्षणवाला सुख भी सम्पूर्ण विकसित हो गया। वह आत्मा स्वत: ज्ञान और सुख के साथ एकमेकरूप परिणमित हो गया। स्वयं ज्ञान और सुखरूप परिणमित करनेवाले आत्मा को इन्द्रियों की सहायता के बिना ही पूर्णज्ञान और सुख है। आत्मा से भिन्न किसी भी पदार्थ में से सुख नहीं आया किन्तु आत्मा स्वत: ही सुखमय हुआ है, और उस सुख में किसी भी प्रकार की अरुचि नहीं है। इससे अनंतकाल तक ऐसे के ऐसे ही सुख का अनुभवन करता रहेगा; कभी भी 'अब यह सुख नहीं चाहिये' ऐसा अरुचिभाव नहीं होगा। जो आकुलता हो तो अरुचि आये किन्तु यह सुख तो स्वाभाविक होने से अनाकुल है, उसमें अरुचि कैसी ? अज्ञानी ने इन्द्रियविषयों में जो सुख की कल्पना की है, वह आकुलताजनित है, इसलिये उसमें अरुचि आ जाती है। दूधपाक खाते-खाते थोड़े ही समय में उसमें अरुचि हो जाती है, किसी भी इन्द्रियों के विषय में अरुचि आये बिना नहीं रहती, क्योंकि वहाँ वास्तविक सुख नहीं है। और स्वभाव में से प्रगट हुआ यह अतीन्द्रिय सुख वास्तविक सुख है, उसका चाहे जितना उपभोग करे, किन्तु उसमें अरुचि नहीं है किन्तु आनंद है, आह्लाद है। केवलज्ञान के पहले साधकदशा के समय अनाकुल आनंद अंशत: प्रगट हुआ था, उसमें भी 'इतना आनंद पर्याप्त है, अब इससे अधिक नहीं चाहिये', ऐसी अरुचि कभी भी नहीं होती थी, किन्तु जैसा यह आनंद प्रगट हुआ, वैसा अपार, परिपूर्ण आनंद प्रगट हो-ऐसी भावना थी। इससे विशेष स्वरूपानुभव द्वारा स्वत: अमर्यादित सुख स्वरूप हो जाता है, वही सुप्रभात है।

अब इस गाथा से क्या निश्चित् हुआ, वह कहते हैं:—'इसप्रकार आत्मा का ज्ञान और आनंद स्वभाव ही है, और स्वभाव तो पर से निरपेक्ष (उदासीन, स्वतंत्र) होने से इंद्रियों के बिना भी आत्मा को ज्ञान और आनंद होता है।' पहले अपने निरपेक्ष स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके पश्चात् शुद्धोपयोग के बल से समस्त घातिकर्म और अपूर्णज्ञान के साथ का सम्बन्ध तोड़कर इन्द्रियों और शरीर के बिना, स्वत: ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमित होता है। इससे वह 'स्वयंभू' आत्मा स्वत: ही ज्ञान-आनंदस्वभाव है। उसका ज्ञान-आनंद कहीं बाहर से नहीं लाना पड़ता। समस्त आत्माओं

का स्वभाव ही ऐसा है। किन्तु जबतक स्वत: अपने ऐसे स्वभाव को स्वीकार नहीं करता, तबतक जीव को वह ज्ञान और आनंद प्रगट नहीं होता। और जब अपने स्वभाव की स्वीकृति करके उसमें एकाग्र होता है, तब अपना जो ज्ञान और आनन्द त्रिकाल शक्तिरूप है, वही पर्यायरूप से प्रगट होता है और पश्चात् सदैव ऐसा का ऐसा ही रहता है।

[२४]प्रयोजन

इसे समझने का प्रयोजन यह है कि जैसे अरिहंत और सिद्ध भगवान को इन्द्रियों से रहित ही ज्ञान और सुख है, वैसे ही अपना स्वभाव भी इंद्रियों के बिना ही ज्ञान और सुखरूप परिणमित होने का है। ऐसे अपने स्वभाव की महिमा करके उस ओर की उन्मुखता से शुद्धोपयोग प्रगट करना चाहिये। किसी भी आत्मा का स्वभाव अज्ञानरूप या पुण्य-पापरूप नहीं है, किन्तु समस्त आत्माओं का स्वभाव, ज्ञान और सुखमय ही है। वस्तु का स्वभाव पर की अपेक्षा नहीं रखता; इसलिये आत्मा का ज्ञान और आनंदस्वभाव पर से निरपेक्ष है। आत्मा का स्वभाव ही पवित्र है। जहाँ वह पर्याय में पूर्ण प्रगट हुआ, वहाँ स्वयमेव ज्ञान और सुख होता है, उसमें उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। जब पूर्णज्ञान और सुख प्रगट नहीं हुआ था, तब भी किसी अन्य की आवश्यकता नहीं थी। पूर्ण पर्याय हो या अपूर्ण पर्याय किन्तु स्वभाव तो पर से निरपेक्ष होने से, भगवान आत्मा के ज्ञान और आनंद इन्द्रियरहित ही होते हैं।

[२५]स्वावलंबनता

जो आत्मस्वभाव की पूर्णता है, उसी में परिणमित होकर द्रव्य स्वत: ही ज्ञान और सुखरूप हुआ। स्वभाव तो निरंतर पूर्ण है, उस स्वभाव की प्रतीति और उस ओर की उन्मुखता से जो शुद्धोपयोग हुआ, उससे स्वत: ही ज्ञान और आनंदरूप परिणमित हो जाता है, उस ज्ञान और आनंद का पर के साथ्थ सम्बन्ध नहीं है। स्वद्रव्य में परिणमित होकर स्वयं जितना अकषायरूप हो, उतना ही ज्ञान और सुख होता है, ऐसा स्वावलंबी आत्मस्वभाव है। उस स्वभाव की प्रतीति, उसका ज्ञान, उसका आनंद और उसका पुरुषार्थ भी स्वावलंबी है। स्वावलंबी का सब कुछ स्वावलंबी है। ऐसे स्वभाव के अवलंबन से जो श्रद्धा और स्थिरता प्रगट हुई, उसके बल से आत्मा में स्वकाल की पूर्णता होती है, और सादि अनंतकाल तक पूर्णज्ञान आनंदरूप से आत्मा परिणमन करता है, यही महान सुप्रभात मांगलिक है। ●

'श्री मण्डप' की दीवारों से

[सोनगढ़ में 'भगवान श्री कुन्दकुन्द-प्रवचन-मण्डप' की दीवारों पर अंकित ज्ञान, ध्यान, भक्ति और वैराग्य से ओतप्रोत पुरुषार्थप्रेरक वचनामृत]

(१) हे शिवपुरी के पथिक!

प्रथम भाव को जान। भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है? शिवपुरी का पंथ जिनेन्द्रभगवान ने प्रयत्न-साध्य कहा है। (भावप्राभृत)

(२) सुणी 'घातिकर्म विहीननुं सुख, सौ सुखे उत्कृष्ट छे'
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने भव्य ते संमत करे ॥६२॥

(गु. प्रवचनसार)

(३) हे भाई! यदि तेरी शक्ति हो तो अहो! ध्यानमय प्रतिक्रमणादिक करना और यदि इतनी शक्ति न हो तो वहाँ तक श्रद्धा तो अवश्य करना। (नियमसार)

(४) कुंदपुष्प की प्रभा को धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाऐं विभूषित हुई हैं, जो चारणों के (चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के) करकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं है? अर्थात् सबसे वंद्य हैं। (चंद्रगिरि पर्वत का शिलालेख)

(५) यतीश्वर (श्री कुंदकुंदस्वामी) रजःस्थान-भूमितल को छोड़कर चार अँगुली ऊपर आकाश में गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तर में, और बाह्य में रज से (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अंतरंग में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे)। (विंध्यगिरि शिलालेख)

(६) आत्मा में स्थिर होने से मोक्ष होता है, इसलिये तुम उस आत्मा को प्रयत्न करके पहिचानो और त्रिविधरूप से उसकी श्रद्धा करो, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो। (भाव प्राभृत)

(७) जिनेंद्रदेव ने जिनशासन में ऐसा कहा है कि-पूजादिक में और व्रतादि में पुण्य है, तथा मोह और क्षोभरहित आत्मा का जो परिणाम है, सो धर्म है। (भावप्राभृत)

(८) 'नहि मानतो अे रीत पुण्ये-पापमां न विशेष छे,
ते मोह थी आछन्न घोर अपार संसारे भमे' ॥७७॥ (प्रवचनसार)

(९) हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी (मृत्यु समान प्रतिकूलता

आवे तो भी) तत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादिक मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे अपने आत्मा को समान परद्रव्यों से भिन्न विलसता देखकर इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्वपन के मोह को तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

(आत्मख्याति)

(१०) भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट,
शीतल चित्त भयौ जिम चन्दन।
केलि करें शिवमारग में,
जगमाहिं जिनेसुर के लघुनन्दन॥
सत्य सरूप सदा जिनके,
प्रगट्यो अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदशा तिनकी पहिचानी
करे कर जोर बनारसी वन्दन॥ (नाटक-समयसार)

(११) सुर-असुर-नरपति वंद्यने, प्रविनष्ट घातिकर्म ने,
प्रमणन करूँ हुँ धर्मकर्त्ता तीर्थ श्री महावीर ने॥१॥
वली शेष तीर्थंकर अने सौ सिद्ध शुद्धास्तित्व ने,
मुनि ज्ञान-दृग-चारित्र-तप-वीर्याचरण संयुक्त ने॥२॥
ते सर्व ने साथे तथा प्रत्येक ने प्रत्येक ने,
वंदुं वली हुँ मनुष्यक्षेत्रे वर्तता अर्हन्त ने॥३॥ (प्रवचनसार, गु.)

(१२) आत्माज्ञानं स्वयंज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्!
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वतः ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? आत्मा, परभाव का कर्ता है-ऐसा मानना सो व्यवहारी जीवों का मोह है। (आत्मख्याति)

(१३) जीव बंध बन्ने, नियत निज निज लक्षणे छेदाय छे,
प्रज्ञा क्षीणी थकी छेदतां बन्ने जुदा पड़ी जाय छे।
जीव बंध ज्यां छेदाय अे रीत नियत निज निज लक्षणे,
त्यां छोडवो अे बंध ने जीव ग्रहण करवो शुद्ध ने। (समयसार, गु.)

(१४) विद्वज्जनो भूतार्थ तजी, व्यवहारमां वर्तन करे,
पण कर्मक्षयनुं विधान तो परमार्थ आश्रित संत ने। (समयसार, गु.)

(१५) संयम-नियम-तप धारतां आत्मा समीप ले जेहने,
स्थायी सामायिक तेह ने भाख्युं श्री केवली शासने। (नियमसार)

(१६) जिनके ज्ञानदर्पण में समस्त स्व-पर ज्ञेय अत्यन्त स्पष्टरूप से-प्रत्यक्षरूप से प्रतिभासित होते हैं—ऐसे श्री सीमन्धरादि त्रिकाल के जगदोद्धारक तीर्थंकर भगवन्तों को परमोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो।

(१७) हे परमोपकारी कहान गुरुदेव! आपने वीतराग प्रणीत सत्शास्त्रों में निरूपित द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता, निश्चय-व्यवहार का गहन रहस्य और सम्यग्दर्शन की परम महिमा प्रगट करके, अनादिकालीन भयंकर भव-भ्रमण को छोड़कर शाश्वत् सुख प्राप्त करानेवाले सत्ज्ञान को समझाया है, उसके लिये हम आपको परम भक्ति से नमस्कार करते हैं।

(१८) नथी अप्रमत्त के प्रमत्त नथी जे अेक ज्ञायकभाव छे,
अे रीत 'शुद्ध' कथाय ने जे ज्ञात ते जो तेज छे ॥६॥
चारित्र, दर्शन, ज्ञान पण व्यवहार कथने ज्ञानी ने,
चारित्र नहिं, दर्शन नहिं, नहिं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध छे ॥७॥ (समयसार)

(१९) यह निचोर या ग्रन्थ कौ,
यहै परम रस पोख।
तजै सुद्ध नय बन्ध है,
गहै सुद्धनय मोख॥ (नाटक-समयसार)

(२०) जो क्रोध-पुद्गलकर्म जीव ने परिणमावे क्रोध मां,
क्यम क्रोध तेने परिणमावे जे स्वयं नहि परिणमे?
अथवा स्वयं जीव क्रोधभावे परिणमे-तुज बुद्धि छे।
तो क्रोध जीव ने परिणमावे क्रोध मां-मिथ्या बने। (समयसार, गु.)

(२१) यह (ज्ञानस्वरूप) पद, कर्म से वास्तव में दूरवर्ती है, दुष्प्राप्य है, और सहज ज्ञान की कला द्वारा वास्तव में सुलभ है, इसलिये निज ज्ञान की कला के बल से इस पद का अभ्यास (अनुभव) करने के लिये जगत् निरन्तर प्रयत्न करो! (आत्मख्याति)

(२२) अशुचिपणुं विपरीतता अे आस्त्रवोनां जाणी ने,
वली जाणी ने दु:ख कारणो अेथी निवर्तन जीव करे। (समयसार, गु.)

(२३) उपादान निज गुण जहाँ, तहाँ निमित्त पर होय;
भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोय।
उपादान बल जहँ तहाँ, नहिं निमित्त को दा
एक चक्र सों रथ चले, रवि यहै स्वभाव।
सबै वस्तु असहाय जहाँ, तहाँ निमित्त है कौन?
ज्यों जहाज परवाह में, तिरे सहज बिन पौन।
उपादान विधि निरवचन, है निमित्त उपदेश;
बसै जु जैसे देश में, करे सु तैसे भेष।

(बनारसी विलास)

(२४) जे जाणतो अर्हन्तने गुण द्रव्यने पर्ययपणे,
ते जीव जाणे आत्मने तसु मोह पामे लग खरे॥८०॥
जीव मोहने करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने;
जो रागद्वेष परिहरे तो पामती शुद्धात्मने॥८१
अर्हन्त सौ कर्मोतणो करी नाश अेज विधि वडे,
उपदेश पण अेम ज करी, निर्वृत यथा नमुँ तेमने॥८२॥ (गु. प्रवचनसार)

(२५) हे मुनि! दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि के लिये दीक्षा प्रसंग की तीव्र त्याग भावना को, किसी रोगोत्पत्ति प्रसंग की उग्र वैराग्य अवस्था को, किसी दु:ख के प्रसंग पर प्रगट हुई उदासीनता की भावना को, किसी सत् उपदेश के प्रसंग पर हुई परम आत्मिक भावना को, किसी पुरुषार्थ के धन्य अवसर पर जागृत हुई पवित्र अन्तर भावना को स्मरण में रखना, निरन्तर स्मरण में रखना, भूलना नहीं। (भावप्राभृत)

(२६) श्रामण्यमां सत्तामयी सविशेष आ द्रव्यो तणी,
श्रद्धा नहि, ते श्रमण ना, तेमांथी धर्मोद्भव नहि।
आगम विषे कौशल्य छे ने मोह दृष्टि विनष्ट छे,
वीतराग चरितारूढ़ छे ते मुनि-महात्मा 'धर्म' छे। (प्रवचनसार, गु.)

अष्ट-प्राभृत प्रवचन

(अंक ४२ से आगे)

[अष्टप्राभृत पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यानों का संक्षिप्त सार]

(गाथा १६)

[१६९] सम्यग्दर्शन होने पर क्या-क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से कल्याण-अकल्याण का स्वरूप ज्ञात होता है-ऐसा पन्द्रहवीं गाथा में कहा है। अब सोलहवीं गाथा में कल्याण-अकल्याण का स्वरूप जानने से क्या होता है ? सो कहते हैं। जो पुरुष कल्याण-अकल्याण मार्ग का स्वरूप जाननेवाले हैं, वे ऐसे होते हैं कि जिन्होंने मिथ्यात्व स्वभाव को उड़ा दिया है अर्थात् मिथ्यात्व का अभाव किया है। वैसे ही शीलवंत कहने से सम्यक्-स्वभाव युक्त भी होता है तथा उस सम्यक्-स्वभाव के फल द्वारा शुद्धता में वृद्धि प्राप्त होती है, और साधकदशा में जो राग रह जाता है, उससे सम्यग्दृष्टि के योग्य तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि उच्चपदों की प्राप्ति होती है और उस अभ्युदय के पश्चात् निर्वाण को प्राप्त होता है-सिद्धदशा प्राप्त करता है।

जीव जब भले-बुरे मार्ग का स्वरूप जान ले तब, अनादि संसार से लेकर जो मिथ्यात्वरूप परिणति है, वह बदलकर सम्यक्स्वभावरूप परिणति होती है, वह परिणति होने पर उस भूमिका के राग से विशिष्ट पुण्य का बंध होता है, और उससे तीर्थंकर इत्यादि की अभ्युदयरूप पदवी प्राप्त करके जीव निर्वाण को प्राप्त होता है। तीर्थंकरगोत्र इत्यादि अलौकिक पुण्य, सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होते हैं।

[१७०] सम्यग्दर्शन के बिना किंचित् धर्म नहीं है।

जीव को एकमात्र सम्यग्दर्शन के फल में सिद्धदशा प्रगट होती है और सम्यग्दर्शन से रहित जितने भी भाव करता है, वे सब संसार के ही कारण हैं, उनसे आत्मा का किंचित् धर्म नहीं होता। नग्न दिगम्बर मुनि होकर पंचमहाव्रत पालन करे और यदि कोई जला डाले तो भी उसके ऊपर किंचित् क्रोध न करे-ऐसी क्षमा पालन करे, फिर भी आत्मा की प्रतीति के बिना उसे किंचित् धर्म नहीं होता।

[१७१] अज्ञानी की सहनशक्ति

प्रश्न—उस जीव में इतना अधिक सहन करने की शक्ति है, उससे आत्मा की थोड़ी-बहुत पहिचान तो होगी न ? यदि आत्मा की पहिचान न हो तो इतनी अधिक सहनशक्ति कहाँ से होगी ?

उत्तर—यह सहनशक्ति परलक्ष से है। संसार में भी अनेक स्त्रियाँ स्वमान के लिये जलकर मर जाती हैं, उसके लिये किंचित् भी आह नहीं करतीं, वह भी सहनशक्ति तो है न? जिसप्रकार वे अशुभ के लक्ष से सहन करती हैं, उसीप्रकार यह द्रव्यलिंगी मुनि, आत्मा की प्रतीति के बिना मात्र शुभराग के लक्ष से सहन करते हैं और क्षमा की शुभवृत्ति आत्मा को लाभदायक है-ऐसा मानते हैं; उन्हें किंचित् आत्मलाभ नहीं है। स्वमान के अशुभराग के लिये सहन करनेवाली स्त्री और शुभराग के लिये सहन करनेवाले द्रव्यलिंगी मुनि-यह दोनों परमार्थ से एक ही प्रकार के हैं, दोनों में से एक का भी कल्याण नहीं होता। अज्ञानियों को ऐसा मालूम होता है कि अहो हो! इन मुनियों ने बहुत सहन किया! किन्तु वास्तव में उन्होंने शुभराग और उसके अभिमान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं किया।

उस द्रव्यलिंगी मुनि को आत्मा का तो लक्ष नहीं है, इससे 'चाहे जैसे संयोगों में भी राग करने का मेरा स्वभाव ही नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ', ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक उसे क्षमाभाव प्रगट नहीं होता। किन्तु 'मेरे पूर्व कर्म का उदय है, इससे यह प्रतिकूलता आई है और यदि इस समय क्रोध करूँगा तो फिर कर्म बंधेगे'—ऐसे भय से कर्म के लक्ष से वह जीव, क्षमाभाव रखता है; किन्तु संयोगों से और विकार से रहित ही मेरा स्वभाव है-ऐसी स्वभावदृष्टि से वह सहन नहीं करता। उसकी वह क्षमा, शुभबंध का ही कारण है, किन्तु धर्म का कारण नहीं है। पर के लक्ष से होनेवाला कोई भी भाव चाहे वह शुभ हो या अशुभ, किन्तु वह धर्मभाव होता ही नहीं। वह अज्ञानी द्रव्यलिंगी जीव ऐसा मानता है कि 'यह मेरे पूर्व कर्म का फल है' इससे वह जीव, पूर्व कर्म का अर्थात् पूर्व के विकारी भावों का और उनके फल का स्वामी हुआ, और वर्तमान में यह सहन करने से मुझे धर्म होगा—ऐसा माना, अर्थात् परलक्ष से क्षमा की शुभवृत्ति को धर्म माना, वही मिथ्यात्व है। उसने मात्र शुभभाव किया है, उससे अधिक कुछ भी नहीं किया। उल्टे उस शुभभाव का अभिमान करके और उसमें धर्म मानकर उसने आत्मा के अकल्याण की पुष्टि की है।

[१७२] धर्मात्मा की सहनशक्ति

धर्मात्मा जीवों को जब क्षमा की वृत्ति होती है, तब वे ऐसा जानते हैं कि मेरे स्वभाव में क्रोध की या क्षमा की वृत्ति नहीं है; स्वभाव में स्थिर होकर शुभ या अशुभ वृत्ति किये बिना जानना, सो मेरा स्वरूप है। जो शुभवृत्ति हुई, वह मेरा कर्तव्य नहीं है और उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। अपने स्वभाव के लक्ष से जितनी वीतरागता हुई, उतना ही मुझे लाभ है। क्रोध की या क्षमा की वृत्ति

किसी पर के कारण से नहीं होती। धर्मात्मा को यदि क्रोध भी आ जाये तो भी वह जानता है कि वास्तव में मैं इस क्रोध का ज्ञाता हूँ, किन्तु इसका कर्ता मैं नहीं हूँ।

ज्ञानी जानते हैं कि जो क्षणिक क्रोध की वृत्ति हुई, वह हमारे स्वरूप की वस्तु नहीं है और पर के कारण भी क्रोध नहीं हुआ है, इसलिये वे उस समय वास्तव में क्रोध की वृत्ति के प्रति उदासीन रहते हैं। 'मैं क्रोध का ज्ञाता हूँ' ऐसा बारम्बार विकल्प नहीं करना पड़ता, अर्थात् उसे घोखना नहीं पड़ता, किन्तु वीतरागी ज्ञानस्वभाव का भान होने पर ऐसा परिणमन सहज ही होता है। ज्ञानी ज्ञानस्वभाव में ही एकत्वरूप से परिणमन करते हैं, इससे क्रोधादि समस्त भावों के ज्ञाता ही हैं। क्रोध होने पर उन्हें स्वरूप में संदेह नहीं होता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनादि में भी शंका नहीं होती, किन्तु उसी समय क्रोध से भिन्नत्व का भान अखंडित रहता है–इसलिये उस अपेक्षा से तो क्रोध के समय भी उनके स्वभाव के लक्ष से अंशत: सहनशीलता प्रगट है।

[१७३] सहनशक्ति का स्वरूप

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना परमार्थ से सहनशक्ति होती ही नहीं। 'सहन करना' सो दु:खरूप नहीं है, किन्तु आनन्द और वीतरागतारूप है। जितने अंश में शुभ या अशुभ राग हो तथा दु:ख मालूम हो, उतने अंश में सहनशक्ति का अभाव है। स्वभाव के भानपूर्वक आनन्द की एकाग्रता से जितना राग–द्वेष, क्रोधादि दूर हुआ, उतनी यथार्थ सहनशक्ति है। किन्तु जो शुभराग में संतोष मानते हैं, उनके यथार्थ सहनशक्ति नहीं है, क्योंकि पुण्य के प्रति राग और पाप के प्रति द्वेष–ऐसा विषमभाव उनके प्रतिसमय रहता है। पुण्य के प्रति रुचि ही स्वरूप के ऊपर महाक्रोध है। पुण्य–पाप रहित स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो पुण्य–पाप और संयोग का मात्र ज्ञाता रह गया है, उसके ही यथार्थ समता भाव है और उसके ही सच्ची सहनशक्ति है। ऐसी वीतरागी सहनशक्ति सम्यक्दर्शन के बिना नहीं होती। शुभभावरूप क्षमा तो जीव ने अनंतबार की है, किन्तु पुण्य और पाप दोनों मेरे स्वरूप नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप में राग का कर्तृत्व नहीं है–इसतरह स्वभाव के लक्ष से वीतरागी क्षमा कभी नहीं की है।

[१७४] सम्यग्दर्शन और उसका उपाय

एक सेकेंड का सम्यग्दर्शन अनंत जन्म–मरण का नाश करता है। सम्यग्दर्शन प्रगट करते ही आत्मा का परिणमन निर्मल होने लगता है, और अल्पकाल में ही मोक्ष होता है। उस सम्यग्दर्शन का उपाय आत्मा की यथार्थ पहिचान करना ही है, परन्तु किसी राग की क्रिया के द्वारा अथवा

करोड़ों रुपये खर्च करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन सहज है, अपने स्वभाव के साथ उसका सम्बन्ध है। जो भाव किंचित् भी कष्टदायक हो अथवा अरुचिकर प्रतीत हो, उस भाव में धर्म नहीं है। धर्मभाव तो शान्तिदायक है। —१६—

(गाथा १७)

[१७५] सम्यग्दर्शन के कारणरूप जिनवचन

सम्यग्दर्शन कल्याण का मूल है, ऐसा कहा। अब श्री आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा सम्यग्दर्शन जिनवचन से प्राप्त होता है, इसलिये वे जिनवचन ही समस्त दु:खों को हरनेवाले हैं। जिनवचन औषधि है, वह औषधि जीव को अनादि से इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों में जो सुखबुद्धि है, उसे छुड़ाती है। वे जिनवचन अमृत के समान हैं क्योंकि वे जन्म-जरा-मरणरूपी रोग को नाश करनेवाले हैं, और दु:खों को हरनेवाले हैं। यहाँ मात्र यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराया है, किन्तु उस निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है-ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसे जिनवचन ही निमित्तरूप होते हैं-ऐसा समझना चाहिये।

जीव अपने स्वरूप को भूलकर विषयों में सुखबुद्धि करता है, इससे वह दु:खी होता है। जिनवचनों के द्वारा स्व-पर का भेदविज्ञान होने पर विषयों में सुखबुद्धि दूर हो जाती है; इसप्रकार जिनवचनरूपी औषधि के द्वारा अज्ञान-मिथ्यात्व का विरेचन होता है। जिसप्रकार रोगों को दूर करने में औषधि निमित्त है, वैसे ही विषयसुख का विरेचन कराने में जिनवचनरूपी औषधि निमित्त है, इसलिये उसे उपकारी भी कहा जाता है। जब सम्यग्दर्शन के द्वारा आत्मस्वभाव के सुख का अनुभव प्रगट होता है, तब विषयों के प्रति सहज ही वैराग्य होता है। जबतक सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभाव सुख का अनुभव न करे, तबतक विषयों के प्रति सच्चा वैराग्य नहीं आता।

[१७६] जिनवचन सम्यग्दर्शन का कारण किसको होते हैं ?

यहाँ आचार्य भगवान सम्यग्दर्शन के यथार्थ निमित्त की पहिचान कराते हैं। सम्यग्दर्शन में निमित्तरूप कोई कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के वचन नहीं होते, किन्तु जिनदेव के वचन ही निमित्त होते हैं। सम्यग्ज्ञानी जो कहते हैं, वह भी जिनवचन के अनुसार होता है। इसलिये उनके वचन भी सम्यग्दर्शन का निमित्त होते हैं। 'यह जिनवचन हैं और यह जिनवचन नहीं हैं'—ऐसा पहले स्वयं निश्चित् करे और पश्चात् जिनवचन क्या कहते हैं, इसका आशय जीव समझे तो उसे सम्यग्दर्शन प्रगट हो और मिथ्यात्वादि रोग दूर हो जायें। इसप्रकार जिनवचन औषधिरूप हैं। परन्तु जो जीव

जिनवचन के रहस्य को नहीं समझते, उन जीवों को सम्यग्दर्शन नहीं होता, और उनके लिये जिनवचन औषधिरूप नहीं कहलाते।

[१७७] जिनवचन क्या करते हैं ?

सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मस्वभाव पहचाना जाता है। श्री जिनवचन सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मस्वभाव की पहिचान कराते हैं। आत्मस्वभाव पहिचानने पर, स्व-विषय में रुचि होती है और इन्द्रियों के विषयों के प्रति वैराग्य होता है, उनमें कदापि सुखबुद्धि नहीं होती। इससे जिनवचनों के द्वारा कल्याण-अकल्याण का स्वरूप जानने से विषयों के प्रति वैराग्य होता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

''वचनामृत वीतराग के, परम शांत रसमूल,
औषधि जो भवरोग की (किंतु) कायर को प्रतिकूल।''

श्री वीतराग के वचन, आत्मा के परम शांतरस का मूल हैं और भवरोग को दूर करने के लिये अमृत के समान औषधि है। उन वचनों को समझने पर जीव को भव की शंका नहीं रहती, क्योंकि आत्मा का स्वभाव भवरहित है और वह स्वभाव, जिनवचन दर्शाते हैं। जिसे भव की शंका है, वह जिनवचनों को समझा ही नहीं है। अपने शांतस्वभाव को भूलकर पर में सुख मानना, सो महारोग है, उस रोग को जिनवचन क्षणमात्र में दूर करते हैं। जिनवाणी स्वतंत्र स्वभाव बतलाकर स्व-पर का भेदविज्ञान कराती है और इसप्रकार विषयों में सुखबुद्धि का विरेचन कराती है। विषयों में सुखबुद्धि दूर होने पर कर्मबन्ध नहीं होता और उससे जन्म-जरा-मरणरूपी रोग दूर होता है। ऐसे जिनवचन भी कायर अर्थात् पुरुषार्थहीन मिथ्यादृष्टि जीव को प्रतिकूल पड़ते हैं—जैसे जिनकी मृत्यु निकट होती है, उसे औषधि भी प्रतिकूल पड़ती है।

[१७८] सम्यग्ज्ञान होने पर क्या होता है ?

श्री आचार्यदेव ने पहले की गाथा में कहा था कि सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान होने पर कल्याण-अकल्याण का निर्णय होता है; अब इस गाथा में उसका फल बताया है कि सम्यग्ज्ञान द्वारा स्व-पर पदार्थों का स्वरूप जानने से आत्मा के स्वभाव में रुचि होती है और विषयों में सुखबुद्धि का विरेचन होता है, विषयों के प्रति वैराग्य होता है, कर्मबंध रुक जाता है; इससे जन्म-मरणरूपी रोग दूर होकर मोक्ष होता है। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन ही है, और उस सम्यग्दर्शन का कारण श्री जिनवचन हैं; इसलिये श्री जिनवचनों को अमृत के समान जानकर उन्हें अंगीकार करना चाहिये और उनका रहस्य समझना चाहिये। —१७—

(गाथा २०)

[१७९] निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या

अब आचार्यदेव निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन की व्याख्या करते हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान, सो व्यवहार से सम्यक्त्व है और निश्चय से अपने आत्मा का ही श्रद्धान, सो सम्यक्त्व है–ऐसा जिनदेव ने कहा है। तत्वार्थ का श्रद्धान, वह व्यवहार से सम्यग्दर्शन है। अपने आत्मस्वभाव की श्रद्धा प्रतीति–रुचि, सो निश्चय से सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं किन्तु आत्मा का ही शुद्धपरिणाम है; इससे वह आत्मा ही है; इसप्रकार सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है–ऐसा निश्चय का आशय समझना चाहिये।

[१८०] निश्चयसम्यग्दर्शन कब प्रगट होता है ?

आत्मा का स्वभाव छहद्रव्य और नवतत्त्वों को संपूर्णरूप से जानने का है, इससे प्रथम छहद्रव्य और नवतत्त्वों की यथार्थ प्रतीति के बिना अपने ज्ञातास्वभाव की श्रद्धा हो ही नहीं सकती। ज्ञातास्वभाव की प्रतीति, सो निश्चयसम्यग्दर्शन है, और नवतत्त्व की प्रतीति, सो व्यवहार –सम्यग्दर्शन है। यदि भेदरूप से नवतत्व की प्रतीति करे, किन्तु ज्ञातास्वभाव की प्रतीति न करे तो निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। ज्ञान का स्वभाव, रागरहित रहकर जानने का है, इससे जहाँ तक रागसहित नवतत्त्वों को जाने, वहाँ तक विकल्प है; वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है। ज्ञान में जहाँ तक एकत्वबुद्धिपूर्वक का राग विकल्प है, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु स्वभाव की ओर उन्मुख होकर प्रतीति करते ही राग के साथ की एकत्वबुद्धि टूट जाती है, और स्वभाव के साथ एकता होकर निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् जो राग–विकल्प होता है, उसमें सम्यग्दृष्टि जीव को एकत्वबुद्धि नहीं होती। इससे वहाँ विकल्प होने पर भी उसे निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से ही होता है।

[१८१] बन्धन का नाश निश्चयसम्यग्दर्शन से होता है–व्यवहार से नहीं।

जिसने निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट किया हो, उस जीव के कदाचित् व्यवहारसम्यग्दर्शन में दोष (अतिचार) होवे तो भी वह उसे दर्शनमोह के बंध का कारण नहीं होता; क्योंकि निश्चय–सम्यग्दर्शन के सदभाव में मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्धन नहीं होता। और किसी जीव के व्यवहार–सम्यग्दर्शन तो बराबर हो, उसमें किंचित् अतिचार भी न लगने देता हो, परन्तु यदि उसे निश्चय–सम्यग्दर्शन न हो तो उसे मिथ्यात्व–मोह निरन्तर बँधता ही रहता है। सम्यग्दर्शन का जो व्यवहार है,

वह सम्यक्त्व के दोष को (मिथ्यात्व को) टालने में समर्थ नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन का जो निश्चय है, वह मिथ्यात्व के बन्धन नहीं होने देता। इसलिये ऐसा सिद्धान्त है कि 'निश्चय' ही बन्ध का नाशक है और 'व्यवहार' बन्ध का नाश करने में समर्थ नहीं है।

[१८२] व्यवहार सम्बन्धी दोष होने पर भी निश्चय के बल से उनकी निर्जरा ही हो जाती है, किन्तु उन दोषों से नवीन बंधन नहीं होता।

निश्चयसम्यग्दर्शन के बल से सम्यक्त्व सम्बन्धी जो व्यवहार के दोष हैं, उनकी निर्जरा ही हो जाती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि को वे बंध का कारण नहीं होते। क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्बन्धी निश्चय प्रगट हो गया है–अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट हो गया है, इससे उसके मिथ्यात्व का बंधन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही है। चौथे गुणस्थान में क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन में किंचित् सूक्ष्म दोष होता है, और वहाँ उसके सम्यक्मोहनीय नाम की प्रकृति का उदय होता है, परन्तु उस समय भी उसके मिथ्यात्वप्रकृति का बंध नहीं होता; देखो! जीव के कुछ दोष भी है और कर्म का उदय भी है, तथापि सम्यग्दृष्टि को उस कर्म का बंधन नहीं होता; क्योंकि निश्चयसम्यग्दर्शन के बल से, सम्यक्त्व सम्बन्धी जो व्यवहारदोष हैं, उनकी निर्जरा ही हो जाती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि के वह बंध के कारण नहीं होते। 'सम्यक्मोहनीय' प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है कि उनका बंध किसी भी जीव के नहीं होता; जब उसका उदय हो (और जीव के किंचित् दोष हो), उस समय भी मिथ्यात्वप्रकृति का बंधन होता ही नहीं। 'सम्यक्मोहनीय' नाम की कर्मप्रकृति का उदय सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है, परन्तु उसके निश्चयसम्यक्त्व के बल में वह बंध का कारण नहीं होती, किन्तु उसकी निर्जरा ही हो जाती है।

[१८३] हे जीव! तू निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट कर

ज्ञान का स्वभाव राग से भिन्न रहकर स्वतंत्ररूप से जानने का है। शास्त्रादि के लक्ष से सात तत्त्वों को जानता है, वह तो रागसहित जाना है, किन्तु राग से भिन्न होकर स्वभाव की प्रतीति करे तो निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है। छहद्रव्यों के और सात तत्त्वों के विकल्पों को तोड़कर अपने शुद्ध आत्मा की विकल्परहित श्रद्धा ही सम्यक्दर्शन है। आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि हे जीव! तू यह सम्यग्दर्शन प्रगट करके परम चक्षुओं द्वारा अपने पवित्र स्वभाव को देख। दया-भक्ति इत्यादि किसीप्रकार का रागभाव तेरे आत्मस्वभाव की जाति नहीं है। —२०—

(गाथा २१)

[१८४] सम्यग्दर्शन धारण करने की प्रेरणा

अब इस गाथा में आचार्यदेव सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाकर उसे धारण करने के लिये भव्य जीवों को प्रेरणा करते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ दर्शन रत्न है, वह सर्वगुणों में और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयी में सार है-उत्तम है तथा मोक्षरूपी महल में चढ़ने के लिये प्रथम सीढ़ी है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्यजीवों! तुम उस सम्यग्दर्शन को अंतरंग भाव से धारण करो; बाह्यक्रिया इत्यादि से जो धर्म माना है, वह परमार्थ नहीं है। अन्तरंग में आत्मा की रुचि द्वारा सम्यग्दर्शन धारण करना, सो मोक्ष का कारण है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू भाव से ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण कर। जैसे कुलीन पिता अपने पुत्र को शिक्षा देता है, वैसे ही धर्मपिता आचार्यदेव शिक्षा देते हैं कि परमपिता श्री सिद्धभगवान की वीतरागी संतान होने योग्य हे भव्यजीवो! तुम आत्मकल्याण के लिये पवित्र सम्यग्दर्शन को पहिचानकर अन्तरंगभाव से धारण करो। चैतन्यभाव के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करो।

[१८५] स्वाश्रयभाव से सम्यग्दर्शन होता है

विकल्प से, देव-गुरु-शास्त्र के राग से या केवल शास्त्र की जानकारी से सम्यग्दर्शन नहीं होता;-यह सब तो अभव्य जीव भी करते हैं, परन्तु उनको परावलंबन की श्रद्धा रहा करती है। वस्तुस्वभाव स्वाधीन पूर्ण है, उसकी श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। ज्ञान में एकसाथ समस्त लोकालोक ज्ञात हो तो भी वह थक नहीं जाता और न उसमें विकल्प भी उठते हैं-ऐसा ज्ञानस्वभाव है, अर्थात् ज्ञानस्वभाव निरंतर पूर्ण और विकाररहित है, ऐसे ज्ञानस्वभाव को किंचित् भी पराश्रित मानना, सो यथार्थ मान्यता नहीं है। विकल्प का एक अंश भी वस्तुस्वभाव में नहीं है, ऐसे स्वभाव का आश्रय, सो मुक्ति का कारण है; और विकल्प का एक अंश भी मेरा है-ऐसा पराश्रयभाव, सो मिथ्यात्व है और वही संसार का कारण है।

[१८६] सम्यग्दृष्टि जीवों की अन्तरदशा

सम्यग्दृष्टि के जो स्वाश्रयभाव प्रगट होता है, वह भाव सिद्ध भगवान की जाति का होता है। सिद्ध भगवान के संपूर्णरूप से स्वाश्रय प्रगट हुआ है और साधक सम्यग्दृष्टि के अंशतः स्वाश्रयभाव प्रगटा है-इसलिये उनमें साध्य-साधक का भेद है, किन्तु दोनों के भावों की जाति एक ही है।

पूर्णभाव का साधक भाव भी पूर्ण की जाति का ही होता है। नाटक-समयसार में सम्यग्दृष्टि को जिनेश्वरदेव का लघुनन्दन कहा है, वह निम्नानुसार है:—

''भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन,
केलि करें शिवमारग में, जगमांहि जिनेश्वर के लघुनन्दन।''

अर्थ :—जिनके हृदय में स्व-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन के समान शीतल हो गया है, अर्थात् कषायों का आतप नहीं है, और स्व-पर का विवेक होने से जो मोक्षमार्ग में केलि कर रहे हैं-ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव इस जगत में जिनेश्वरदेव के लघुनन्दन हैं, अर्थात् अल्पकाल में वे अरिहन्त पद प्राप्त करनेवाले हैं—इत्यादि सम्यग्दर्शन की महिमा करके पं. बनारसीदासजी ने सम्यग्दृष्टि जीवों की शांत पवित्र दशा को नमस्कार किया है।

[१८७] अन्तरंग भाव और बहिरंग भाव

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि-हे जीवो! तुम सम्यग्दर्शन को अन्तरंग भाव से धारण करो! अन्तरंगभाव का अर्थ क्या? अन्तरस्वभाव के आश्रय से परिणति प्रगट करना, सो अन्तरंगभाव है; ऐसी परिणति अंशत: प्रगट करना, सो सम्यग्दर्शन है। नवतत्व की श्रद्धा आदि रागभाव है, वह अन्तरंगभाव नहीं है, किन्तु बहिरंगभाव है, अर्थात् उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता। बाह्य के लक्ष से जो भी भाव हो, वह सब बहिरंगभाव है। आत्मस्वभाव शुद्ध चैतन्यमय है, उसके अन्तर के अंग में से परिणति प्रगट कर। इस जड़शरीर में से सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं होता है। उसीप्रकार देव-गुरु-शास्त्र में से या नवतत्व के विकल्पों में से तेरा सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। इसलिये उन सबका लक्ष छोड़कर अपने चैतन्यरूपी शरीर में से सम्यग्दर्शन को निकाल। जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वह तेरा चैतन्य अंग नहीं है, किन्तु कार्मण अंग है। व्यवहारसम्यग्दर्शन भी कार्मण अंग है। चैतन्य को भूलकर कर्म के सम्बन्ध से जो भाव उत्पन्न हों, वह बहिरंगभाव हैं, अन्तरंगभाव नहीं हैं और उनमें से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं है।

'अन्तरंगभाव' कहकर आचार्यदेव ने समस्त परभावों का निषेध किया है। शरीरादि की क्रिया तो जड़ है और व्रत, तप, पूजा-भक्ति, प्रतिमा इत्यादि का शुभराग, सो भी आत्मस्वभाव से बहिरंगभाव है-विकार है, उससे आत्मकल्याण नहीं होता। इसलिये उस जड़ की क्रिया में और बहिरंगभावों में एकत्वबुद्धि छोड़कर (अर्थात् परभावों में आत्मबुद्धि छोड़कर) मात्र आत्मस्वभाव का आश्रय करना, वही अन्तरंगभाव है और ऐसे भाव से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वही आत्मा का कल्याण है।

[१८८] सम्यग्दर्शन का उपाय-स्वाश्रय भाव

श्री सर्वज्ञदेव के कहे हुए आत्मा के ज्ञान, चारित्रादि समस्त धर्मों में सम्यक्दर्शन प्रधान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में सबसे प्रधान सम्यग्दर्शन है, इसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। ऐसा सम्यग्दर्शन अंतरंगस्वभाव के अवलम्बन से प्राप्त होता है, किन्तु वीतरागदेव की वाणी का श्रवण या नवतत्व के विचार इत्यादि बहिरंगभावों से प्राप्त नहीं होता। पहली भूमिका में सत् का श्रवण-मनन विचार आदि भाव होते अवश्य हैं, किन्तु यदि पहले से ही अन्तरंग स्वाश्रितस्वभाव का निर्णय करने का लक्ष हो तो वह रागादि बहिरंगभावों का निषेध करके स्वभाव के सन्मुख होकर स्वाश्रितभाव द्वारा सम्यक्दर्शन प्रगट कर ले। किन्तु यदि पहले से उन श्रवण, विचार आदि के शुभराग को सम्यग्दर्शन का यथार्थ कारण मान ले तो वह राग में एकत्वबुद्धि करके रुक जायगा, इससे राग का निषेध करके स्वाश्रयभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा और उस जीव को सम्यक्दर्शन नहीं होगा। इसलिये 'दंसणरयणं घरेह भावेण' अर्थात् हे जीव! तू सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को अन्तरंगभाव से धारण कर! ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन का उपाय भी बतला दिया है।—२१—

(गाथा १३)

[१८९] आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ श्रद्धा अवश्य करना।

यह गाथा अत्यंत सुन्दर है। इस गाथा में आचार्यदेव सम्यग्दर्शन पर मुख्य भार देकर बतलाते हैं कि हे भव्य! यदि तुझसे हो सके तो श्रद्धापूर्वक चारित्र भी करना, और चारित्रादि न हो सकें तो भी स्वभाव की श्रद्धा तो अवश्य ही करना। स्वभाव की श्रद्धा से तेरा सम्यग्दर्शन स्थिर रहेगा और आत्मकल्याण होगा। किन्तु यदि स्वभाव की श्रद्धा नहीं करेगा तो अनन्त जन्म-मरण में कहीं भी उद्धार नहीं होगा।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणरस सम्मत्तं ॥२२॥

हे जीव! जिसप्रकार से हमने मोक्षमार्ग कहा है, उसप्रकार से दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करने में यदि तू समर्थ हो तो वैसा करना। और यदि वह परिपूर्ण करने में समर्थ न हो तब भी उसका श्रद्धान तो अवश्य करना। क्योंकि केवली भगवान ने यथार्थ श्रद्धा करनेवाले के भी सम्यग्दर्शन कहा है। तुझसे यदि अधिक न हो सके तो भी श्रद्धा में तो सत् की ही स्वीकृति करना, किन्तु अन्यथा नहीं मानना।

[१९०] व्रतादि न होने पर भी आराधकत्व।

जीवनभर व्रत, तप न कर सके; आसक्ति भाव न छोड़ सके; त्याग न कर सके और विशेष चारित्रदशा न कर सके, तथापि जो जीव शुद्ध सम्यग्दर्शन को स्थिर रखता है, वह जीव आराधक है और अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है। किन्तु जो जीव विपरीतश्रद्धा करता है, वह विराधक होकर अनन्तकाल संसार में भटकता है। चौथे गुणस्थान में व्रतादि न होने पर भी हजारों-लाखों वर्ष तक शुद्ध सम्यग्दर्शन रहता है।

[१९१] सम्यग्दर्शन का स्वभाव

यहाँ पर आचार्यदेव सम्यग्दर्शन पर मुख्य भार देकर कहते हैं कि हे भाई! तुझसे विशेष न हो तब भी थोड़े-से थोड़ा सम्यग्दर्शन अवश्य रखना। यदि तू इससे भ्रष्ट हो गया तो किसी भी प्रकार तेरा कल्याण नहीं होगा। चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन में अल्प पुरुषार्थ है, इसलिये तू यह सम्यग्दर्शन तो अवश्य करना। सम्यग्दर्शन का ऐसा स्वभाव है कि जो जीव उसे धारण करे, वह जीव क्रमशः शुद्धता में वृद्धि करके अल्पकाल में मुक्तदशा प्रगट करता है। वह जीव को अधिक समय तक संसार में नहीं रहने देता। आत्मकल्याण का मूलकारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, सो पूर्ण मोक्षमार्ग है। हे भाई! यदि तुझसे सम्यग्दर्शनपूर्वक, राग छोड़कर चारित्रदशा प्रगट हो सके तो वह उत्तम है-और वही करने योग्य है, किन्तु यदि तुझसे चारित्रदशा प्रगट न हो सके तो कम से कम अपने आत्मस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य करना। इस श्रद्धा मात्र से भी अवश्य तेरा कल्याण होगा। यदि चारित्र न हो सके तो श्रद्धा में अन्य नहीं मानना।

[१९२] सम्यक्चारित्र और सम्यक्श्रद्धा

यहाँ पर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि सम्यक्चारित्र करने के लिये मनाई की है। सम्यक्चारित्र हो तो यह उत्तम है, किन्तु किसी जीव के सम्यक्चारित्र न हो सकता हो और इससे वह सम्यग्दर्शन का भी पुरुषार्थ न करता हो तो ऐसे जीव से कहते हैं कि हे भाई! सम्यक्चारित्र न होते हुए भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, इसलिये यदि तुझसे सम्यक्चारित्र न होता हो तो सम्यग्दर्शन अवश्य प्रगट करना। सम्यग्दर्शन मात्र से भी तेरा आराधकत्व चलता रहेगा। वीतरागदेव के कहे हुए व्यवहार की वृत्ति उठे, उसे भी बंधन मानना। पर्याय में राग हो, तथापि ऐसी प्रतीति रखना कि राग मेरा स्वभाव नहीं है, और इस राग के द्वारा मुझे धर्म नहीं है। इसप्रकार रागरहित स्वभाव की श्रद्धापूर्वक यदि रागरहित चारित्रदशा हो सके तो वह प्रगट करके स्वरूप में स्थिर हो जाना, किन्तु

यदि ऐसा न हो सके और राग रह जाये, तो उस राग को मोक्ष का हेतु नहीं मानना, राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा रखना।

[१९३] राग होने पर भी रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो ?

कोई ऐसा माने कि-पर्याय में राग हो, तबतक रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कैसे हो सकती है ? प्रथम राग दूर हो जाये तो पश्चात् रागरहित स्वभाव की श्रद्धा हो-इसप्रकार जो जीव, राग को ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक्श्रद्धा भी नहीं करता; उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू पर्यायदृष्टि से राग को अपना स्वरूप मान रहा है; किन्तु पर्याय में राग होने पर भी पर्यायदृष्टि छोड़कर यदि तू स्वभावदृष्टि से देख तो तुझे अपने रागरहित स्वरूप का अनुभव हो। जिससमय क्षणिक पर्याय में राग है, उसीसमय रागरहित त्रैकालिक स्वभाव है; इसलिये पर्यायदृष्टि छोड़कर तू अपने रागरहित स्वभाव की प्रतीति रखना, इस प्रतीति के बल से अल्पकाल में ही राग दूर हो जायेगा, किन्तु इस प्रतीति के बिना राग कभी दूर होनेवाला नहीं है।

[१९४] प्रथम यथार्थ श्रद्धा और पश्चात् वीतरागता।

'प्रथम राग दूर हो जाये तो मैं रागरहित स्वभाव की श्रद्धा करूँ'—ऐसा नहीं, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि पहले तू रागरहित स्वभाव की श्रद्धा कर तो उस स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग दूर हो। 'राग दूर हो जाये तो श्रद्धा करूँ-अर्थात् पर्याय सुधरे तो द्रव्य को मानूँ' जिसकी ऐसी मान्यता है, वह जीव पर्यायदृष्टि है-पर्यायमूढ़ है, उसके स्वाभावदृष्टि नहीं है; और वह मोक्षमार्ग के क्रम को नहीं जानता, क्योंकि वह सम्यक्श्रद्धा से पहले सम्यक्चारित्र की इच्छा करता है। 'रागरहित स्वभाव की प्रतीति करूँ तो राग दूर हो' ऐसे अभिप्राय में द्रव्यदृष्टि है; और द्रव्यदृष्टि के बल से पर्याय में निर्मलता प्रगट होती है। मेरा स्वभाव रागरहित है, ऐसे वीतरागी अभिप्रायपूर्वक-(स्वभाव के लक्ष से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से) जो परिणमन हुआ, उसमें प्रतिक्षण राग नष्ट होता जाता है, और अल्पकाल में ही उसका नाश हो जाता है; यह सम्यक्दर्शन की महिमा है। किन्तु यदि पर्यायदृष्टि रखकर ही अपने को रागयुक्त मान ले तो राग किसप्रकार दूर हो ? मैं रागी हूँ-ऐसे रागीपने के अभिप्रायपूर्वक (विकार के लक्ष से अर्थात् पर्यायदृष्टि से) जो परिणमन हो, उसमें तो राग की ही उत्पत्ति हुआ करे, किन्तु राग नष्ट नहीं होगा। इससे, पर्याय में राग होने पर भी उसीसमय पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि से रागरहित चैतन्य-स्वभाव की श्रद्धा करना—ऐसा आचार्यभगवान बतलाते हैं, और यही मोक्षमार्ग का क्रम है।

[१९५] आत्मार्थी का प्रथम कर्तव्य

आत्मार्थी का प्रथम कर्तव्य यह है कि पर्याय में राग न छूट सके तो भी 'मेरा स्वरूप रागरहित ही है'—ऐसी श्रद्धा अवश्य करे। यदि जीव ऐसी श्रद्धा करे कि मेरे स्वरूप में राग नहीं है तो उसके राग दूर करने का पुरुषार्थ प्रगट हो सकता है। किन्तु जो अपने रागरहित स्वभाव की श्रद्धा करने से इंकार करता है और राग को ही अपना स्वरूप मानकर उसमें एकाकार हो रहा है, वह जीव अपने शुद्धस्वभाव का अनादर करके और विकार का आदर करके संसार में ही भ्रमण करता है। और जिसने रागरहित स्वभाव की श्रद्धा की है-ऐसा जीव, स्वभाव का आदर और विकार का अनादर करके अल्पकाल में ही सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करता है। इसलिये यथार्थश्रद्धा ही धर्म का मूल है। प्रत्येक आत्मार्थी को सर्वप्रथम सच्ची श्रद्धा अवश्य करना चाहिये।

[१९६] जैसा अभिप्राय, वैसा ही (उसी ओर) परिणमन

'मुझमें रागादि विकार की अस्ति है'—ऐसी मान्यतावाला जीव, राग की नास्ति किसके लक्ष से करेगा? उसकी दृष्टि ही विकार में रुकी होने से वह विकार की नास्ति नहीं कर सकेगा। और 'मेरे स्वभाव में रागादि विकार की नास्ति ही है'—ऐसी मान्यतावाला जीव, स्वभावदृष्टि के बल से एकाग्रता करके राग की नास्ति करेगा। जैसा अभिप्राय करे, उसी ओर का परिणमन होता है। यदि ज्ञानस्वभाव के साथ एकता का अभिप्राय करे तो उसका परिणमन ज्ञानमय होता जाये और यदि विकार के साथ एकता का अभिप्राय करे तो उसका परिणमन विकारी होता जाये। इसलिये प्रथम स्वभाव की श्रद्धा करना ही वीतरागता का मूल उपाय है। सम्यग्दृष्टि जीव अभिप्राय की अपेक्षा से वीतराग हैं, और उसी अभिप्रायपूर्वक विशेष परिणमन से, चारित्र की अपेक्षा से वीतरागता प्रगट होती है। प्रथम अभिप्राय की अपेक्षा से वीतरागता प्रगट हुए बिना किसी भी जीव के चारित्र की अपेक्षा से वीतरागता प्रगट नहीं होती। अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी सम्यक्चारित्र प्रगट नहीं होता।

[१९७] श्रद्धागुण और चारित्रगुण के कार्य की भिन्नता

'जब रागरहित चारित्रदशा प्रगट हो, तभी यथार्थ श्रद्धा हुई कहलाती है, किन्तु जहाँ तक राग हो, वहाँ तक रागरहितपने की श्रद्धा नहीं हो सकती'—जो जीव ऐसा मानता है, उसने आत्मा के श्रद्धागुण और चारित्रगुण को स्वीकार नहीं किया है-अर्थात् वास्तव में उसने आत्मा को ही स्वीकृत नहीं किया; उसकी दृष्टि राग के ऊपर है किन्तु आत्मस्वभाव पर नहीं है। राग के समय भी

क्या तेरा आत्मस्वभाव नष्ट हो गया है ? स्वभाव तो त्रिकाल है, तो फिर जो स्वभाव है, उसकी श्रद्धा हो सकती है। पर्याय में राग होने पर भी, उस पर्याय की दृष्टि को छोड़कर स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट हो सकता है। जहाँ तक राग रहे, वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता–ऐसा जिसने माना है, उसने चारित्रगुण का और श्रद्धागुण का कार्य एक ही माना है, किन्तु श्रद्धा के भिन्न कार्य को नहीं माना अर्थात् श्रद्धागुण को ही नहीं माना।

[१९८] राग का त्याग कौन कर सकता है ?

तीर्थंकरनामकर्म के कारणरूप जो सोलह भावनायें हैं, उनमें सर्वप्रथम 'दर्शनविशुद्धि' कही है, क्योंकि वह सबसे मुख्य है; इसलिये वह तो होना ही चाहिये। उन भावनाओं में जहाँ त्याग और तप का वर्णन आता है, वहाँ 'शक्तितः त्याग, तप अर्थात् शक्ति के अनुसार त्याग और तप'—ऐसा कहा है। जिसे अपनी सम्पूर्ण रागरहित शक्ति का भान हो उसे, अपनी पर्याय में कितने त्याग की शक्ति है–उसके प्रमाण की खबर हो; किन्तु जिसने अभी सम्पूर्ण रागरहित आरागी आत्मशक्ति को जाना ही नहीं, उसके राग का त्याग कैसा ? राग से भिन्न स्वभाव क्या है और राग क्या है–इसके भिन्न–भिन्न स्वरूप को जाने तो स्वभाव की एकाग्रता द्वारा राग का त्याग करे। किन्तु जो राग और आत्मा को एक ही रूप मान रहा है, वह जीव किसप्रकार राग का त्याग करे ? शुभराग आत्मा के अरागी स्वभाव की सहायता कर दे, यह मान्यता अभव्य जैसी है। अभव्य भी ऐसा तो मानते हैं। यदि अभव्य जीवों के धर्म हो तो, 'राग से आत्मा को लाभ हो'—ऐसी मान्यतावालों के धर्म हो।

[१९९] परवस्तु आत्मा को लाभ-हानि क्यों नहीं कर सकती ?

आत्मा के स्वभाव में परद्रव्यों का अत्यंत–अभाव है। अभाव क्या कर सकता है ? यदि 'खरगोश के सींग' किसी को हानि पहुँचायें तो परवस्तु आत्मा को लाभ–हानि करे, किन्तु जैसे इस जगत में खरगोश के सींगों का अभाव है, इससे 'मुझे खरगोश के सींग से हानि हुई'–ऐसा कोई नहीं मानता। अथवा 'मैं खरगोश के सींग काटता हूँ'—ऐसा भी कोई नहीं मानता। उसीप्रकार आत्मा के स्वभाव में समस्त वस्तुओं का अत्यंत्य अभाव ही है, इससे उन वस्तुओं के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् कोई भी परवस्तु, आत्मा को लाभ या हानि कर ही नहीं सकती। और फिर जो राग होता है, उसका भी आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव में अभाव है, तथा पहले समय के राग का दूसरे समय में अभाव है; तो वह राग, आत्मा को क्या लाभ करेगा ? राग, आत्मा के स्वभाव में लाभ

नहीं करता, और वह राग उसके पश्चात् दूसरी पर्याय में भी नहीं आता क्योंकि दूसरे समय में राग का अभाव है।

[२००] तू अपने स्वभाव को स्वीकार!

आचार्य भगवान कहते हैं कि यदि तुझसे चारित्र न हो सके तो श्रद्धा में टालमटोल मत करना, अपने स्वभाव को अन्यथा नहीं मानना। हे जीव! तू अपने स्वभाव को तो स्वीकार, स्वभाव जैसा है, उसे वैसा मान तो। स्वभाव को जैसा का वैसा मानने के पश्चात् स्थिरता होने में कदाचित् समय लगे तो उससे विशेष हानि नहीं है, क्योंकि जिसने पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करके सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखा है, वह जीव अल्पकाल में स्वभाव के बल से ही स्थिरता प्रगट करके मुक्त होगा। किन्तु जो स्वभाव को ही नहीं मानता और राग को ही स्वभाव मानता है, वह जीव स्वभाव का अनादर और राग का आदर करता है, उसे अपार हानि है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होकर वह संसार में ही परिभ्रमण करता है। सम्यग्दर्शन तो सहज स्वभाव के पुरुषार्थ द्वारा होता है, राग से अथवा देहादि की क्रिया से नहीं होता।

[२०१] पंचम काल के अल्पशक्तिवाले जीवों को क्या करना चाहिये ?

श्री नियमसार शास्त्र की १५४ वीं गाथा में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि:—

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं
सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चैव कायव्वं ॥१५४॥

हे भाई! यदि तुझमें शक्ति हो तो शुद्ध निश्चय-धर्म-ध्यानरूप प्रतिक्रमणादि कर, और यदि तेरी शक्ति न हो तो वहाँ तक शुद्ध निश्चयधर्म का श्रद्धान तो अवश्य करना योग्य है।

मुख्यत: पंचमकाल के जीवों से आचार्य भगवान कहते हैं कि इस दग्ध पंचमकाल में तुम शक्तिरहित हो, तो भी केवल शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान अवश्य करना। इस पंचमकाल में साक्षात् मुक्ति नहीं है, किन्तु भवभय का नाश करनेवाला अपना आत्मस्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, यह निर्मल बुद्धिमान जीवों का कर्तव्य है। अपने भवरहित स्वभाव की श्रद्धा से तू अल्पकाल में ही भवरहित हो जायेगा।

[२०२] सम्यग्दर्शनसहित चांडाल भी उत्तम है!

जो स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके स्वभाव की स्थिरता में लीन हुए हैं, वे तो सर्वश्रेष्ठ हैं; तथा शुद्ध आत्मस्वभाव की यथार्थ श्रद्धा हो और व्रतादि न हों, तब भी वह उत्तम है, किन्तु जो

आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं करते और शुभराग करके उसमें व्रतादि मानते हैं और उस राग के द्वारा अपने को धर्मात्मा मानते हैं, वे अत्यन्त हीन हैं क्योंकि वे तो श्रद्धान से ही भ्रष्ट हैं; इसलिये अधर्मी हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार की २८ वीं गाथा में कहा है कि-''सम्यग्दर्शनयुक्त जीव यदि चांडाल शरीर में उत्पन्न हुआ हो तो भी श्री गणधर भगवान उसे 'देव' कहते हैं। जिसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है, ऐसा आत्मा स्वतः दिव्य गुणों से दीप्त होता है, इससे वह देव है।'' सम्यग्दर्शनरहित चक्रवर्तीपद अथवा बड़ा देवपद भी तुच्छ है-अशोभित है, और सम्यग्दर्शनसहित चांडाल या मेंढ़क भी श्रेष्ठ है।

[२०३] सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की उन्मुखता

पुण्य क्षणिक है; सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि-दोनों के पुण्य अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शन के बिना उच्चपुण्य नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव, शुभकर्म की लम्बी स्थिति बाँध ले किन्तु मिथ्यात्वभाव के कारण पुण्य की रुचि में लीन होकर, तत्त्व का विरोध करके पुण्य की स्थिति को छेदकर निगोद में जाता है। सम्यग्दृष्टि के स्वभाव की प्रतीति होने से पुण्य की रुचि होती ही नहीं, वे पुण्य-पाप दोनों का नाश करके अल्पकाल में सिद्ध होते हैं। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि कोई जीव मात्र पुण्य में अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकते। सम्यग्दृष्टि, स्वभाव के बल से उसका अभाव करके सिद्ध होते हैं और मिथ्यादृष्टि, पुण्य की रुचि से स्वभाव का अनादर करके निगोद में जाते हैं। जगत में जितनी उत्कृष्ट पुण्यप्रकृतियाँ हैं, वे सम्यग्दृष्टि के ही होती हैं; तीर्थंकर, चक्रवर्ती, गणधर, बलदेव आदि उच्चपद सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करते हैं।

[२०४] प्रथम सम्यग्दर्शन, पश्चात् मुनिदशा

हे भाई! प्रथम तू किसी भी उपाय से, परम पुरुषार्थ द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट कर। सम्यग्दर्शन करने के पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा यदि सहजदशा से राग दूर करके मुनिदशा प्रगट हो सके तो अवश्य वैसा करना, किन्तु कदाचित् रागरहित मुनिदशा का विशेष पुरुषार्थ न हो सके तो भी सम्यग्दर्शन को नहीं छोड़ना।

[२०५] जबतक सम्यग्दर्शन न हो सके तबतक क्या करना ?

प्रश्न : आप सम्यग्दर्शन का अपार माहात्म्य बतलाते हैं, यह तो ठीक है, यही करनेयोग्य भी है; किन्तु यदि इसका स्वरूप समझ में न आये तो क्या करना ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन के बिना आत्मकल्याण का अन्य कोई उपाय तीन काल और तीन लोक में नहीं है; इसलिये जबतक सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ में न आये, तबतक इसका ही अभ्यास निरंतर करते रहना चाहिये। आत्मस्वभाव की यथार्थ प्रतीति का ही प्रयत्न करते रहना चाहिये,– यही सरल और सच्चा उपाय है। यदि तुझे आत्मस्वभाव की सच्ची रुचि है और सम्यग्दर्शन की महिमा को जानकर उसकी तीव्र लालसा हुई है तो तेरा समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जायेगा। जो जीव स्वभाव की रुचिपूर्वक सत् को समझने का अभ्यास करता है, उस जीव के प्रतिक्षण मिथ्यात्वभाव मन्द हो जाता है। एकक्षण भी समझने का प्रयत्न निष्फल नहीं जाता; किन्तु प्रतिक्षण उसका कार्य होता ही रहता है। स्वभाव के उत्साहपूर्वक जो समझना चाहता है, उस जीव के ऐसी निर्जरा प्रारम्भ होती है जो अनन्तकाल में भी न हुई हो। श्री पद्मनिद आचार्यदेव ने तो कहा है कि जिस जीव ने इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी प्रसन्नचित्त से सुनी है, वह जीव मुक्ति के योग्य है।

[२०६] सत् समझने के लक्ष्य से हो रही अंतरक्रिया।

फिर अज्ञानी जीव, व्रतादि में धर्म मानकर जो शुभभाव करे, उसकी अपेक्षा सत् समझने के लक्ष्य से जो शुभभाव होता है, वह उच्चप्रकार का है। व्रतादि में धर्म मानकर जो शुभभाव करता है, उस जीव के अभिप्राय में मिथ्यात्व का पोषण होता जाता है और सत् समझने के लक्ष से तो प्रतिक्षण मिथ्यात्व नष्ट होता है। सत् के लक्ष से ऐसी महान अन्तर–क्रिया होती है, वह अज्ञानियों के ध्यान में नहीं आ सकती; क्योंकि वे बहिर्दृष्टि होने से देह की क्रिया को देखनेवाले हैं किन्तु अंतरंग में ज्ञानादि की क्रिया को नहीं समझ सकते। सत् समझने का विकल्प भी उच्च शुभराग है और सत् को समझना तो अपूर्व आत्मलाभ है।

[२०७] चारित्र का दोष होने पर भी श्रद्धा के दोष को दूर कर सकता है!

परलक्ष से कषाय की मन्दता करना , वह भी आत्मस्वभाव की क्रिया नहीं है, उसके द्वारा सम्यग्दर्शन हीं होता। यहाँ आचार्यदेव श्रद्धा और चारित्रगुण के बीच कथंचित् भेद बतलाकर कहते हैं कि यदि चारित्र न हो सके तो भी श्रद्धा अवश्य करना। अज्ञानी, श्रद्धा और चारित्र के भेद को नहीं समझते, इसलिये वे चारित्र के दोष को श्रद्धा का दोष मान बैठते हैं, अर्थात् चारित्र के बिना सम्यक्श्रद्धा भी नहीं हो सकती–ऐसा वे मानते हैं। इससे यहाँ कहते हैं कि यदि चारित्र का दोष दूर न हो सके तो भी श्रद्धा का दोष तो अवश्य दूर हो सकता है।

[२०८] प्रथम सत् को सत्‌रूप से जानना चाहिये।

अनादिकाल से जीवों ने सम्यग्दर्शन की यथार्थ महिमा को नहीं जाना। चारित्र का पालन न कर सके, तथापि श्रद्धा करनेवाले को भी भगवान ने सम्यग्दृष्टि कहा है; सम्यग्दृष्टि जीव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है। इसलिये हे जीव! वस्तुस्वरूप जैसा है, उसको वैसा ही–यथावत् मान लेना। व्यवहार को व्यवहाररूप जान लेना। सन्तों के अंतरंग और बाह्य में जो सहजदशा है, उसे जानना। स्वत: से नहीं हो सकता, इसलिये सत् को जानना भी नहीं–ऐसा नहीं होता। जो सत् को यथावत् जानता भी नहीं, उस जीव का ज्ञान–श्रद्धान भी सच्चा नहीं होता, और ज्ञान–श्रद्धान यथार्थ हुए बिना चारित्र तो सच्चा होगा ही कहाँ से? सत् को सत्‌रूप से अच्छी तरह जानकर उसमें से जितना हो, उतना करे और दूसरे की यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान रखे तो वह जीव आराधक है। किन्तु यदि श्रद्धा–ज्ञान में ही विपरीत माने–जाने तो वह विराधक है।

[२०९] बंधभाव और मोक्षभाव।

जिनेन्द्रदेव के कहे हुए जो शुभराग हैं, वे मोक्ष के कारण नहीं, किन्तु बंध के कारण हैं। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मूल है—ऐसी श्रद्धा रखकर व्यवहार का निषेध करना। 'व्यवहार के बिना मोक्ष नहीं होता! व्यवहार तो आना ही चाहिये'—ऐसी जिनकी व्यवहार की ओर उन्मुखता है, उन्हें व्यवहार की रुचि है, अर्थात् उनके मिथ्यात्व का पक्ष है, किन्तु स्वभाव की प्रतीति नहीं है। राग आये तो उसका खेद होना चाहिये, उसके बदले जिनके रुचि विद्यमान है, उनकी दृष्टि विपरीत है तथा वे स्वभाव की श्रद्धा से ही भ्रष्ट हैं। ज्ञातास्वभाव में उन्मुखता होने से राग की कोई वृत्ति नहीं उठती; जो भी वृत्ति उठती है, वह ज्ञातास्वभाव के ओर की उन्मुखता को रोककर उठती है; इसलिये बंधभाव है। ज्ञातास्वभाव में रागरहित उन्मुखता ही मोक्ष का कारणरूप भाव है। इसप्रकार बंधभाव और मोक्षभाव के स्वरूप को जानकर उसकी श्रद्धा करना। प्रारम्भ में समस्त बंधभाव दूर नहीं हो जाते, किन्तु श्रद्धा में ऐसा विश्वास होना चाहिये कि यह बंधभाव हैं, यह मेरा स्वरूप नहीं है।

[२१०] सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्चारित्र की प्रतीति।

यदि श्रद्धापूर्वक चारित्र हो तो वह करना चाहिये, और चारित्र न हो सके तो भी श्रद्धा तो अवश्य ही कर्तव्य है–ऐसा आचार्य भगवान ने कहा है; इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि चारित्र का निषेध हो जाता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन में अभेदरूप से सम्यग्चारित्र की पूर्णतया प्रतीति आ ही

जाती है। चारित्र के विकार को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, किन्तु पूर्णतया निर्मल चारित्र को ही स्वीकृत करता है। इसलिये सम्यग्दर्शन होते ही श्रद्धारूप से तो पूर्णतया चारित्र प्रगट हो गया है और इसी सम्यक्श्रद्धापूर्वक के विशेष परिणमन से सम्यग्चारित्र प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन में चारित्र के विकार का निषेध होने से सम्यग्दृष्टि के चारित्र का दोष अधिक समय तक रहनेवाला नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बल से चारित्र का दोष प्रतिक्षण दूर होता रहता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन की आराधना से अधिक से अधिक तीन भव में चारित्र की पूर्णता होकर मुक्ति होती है।

[२११] सम्यग्दर्शन के साथ ही मुनिदशा का चारित्र होने का नियम नहीं है।

(गाथा २२ का भावार्थ)

यहाँ इसप्रकार का आशय है :—यदि कोई ऐसा कहे कि 'सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् तो समस्त परद्रव्य, परभावरूप संसार को जीव हेय जानता है, और जिसे हेय जाने, उसे त्यागकर, मुनि होकर चारित्र ग्रहण करे तो सम्यग्दर्शन हुआ–ऐसा माना जाय, किन्तु मुनिदशा के पहले सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?' इस गाथा में उसका समाधान करते हैं कि–सर्व परद्रव्य, परभाव को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना और श्रद्धान किया, तब मिथ्यात्वभाव तो दूर हो गया; अब जहाँ तक चारित्र अंगीकार करने का सामर्थ्य न हो, वहाँ तक जितना सामर्थ्य हो उतना करे और उसके अतिरिक्त श्रद्धान करे। वहाँ चारित्र का दोष दूर न होने पर भी उसे हेय–उपादेयपने की यथार्थ श्रद्धा है, इससे ऐसा श्रद्धान करनेवाले के भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है। सम्यग्दर्शन के साथ चौथी भूमिका के योग्य स्वरूपाचरणचारित्र तो होता ही है, किन्तु मुनिदशा के योग्य चारित्र भी होना चाहिये–ऐसा कोई नियम नहीं है।

[२१२] सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र का कार्य।

शंका : जीव जिस क्षण हेय–उपादेयपने को यथार्थ समझे, उसी क्षण हेय को त्यागकर उपादेय को ग्रहण करे–अर्थात् सच्ची श्रद्धा के साथ ही पूर्ण चारित्र होना चाहिये। जब रागादि का त्याग करके चारित्र को अंगीकार करे, तभी यथार्थ श्रद्धा हुई कहना चाहिये–ऐसा मानते हैं, उसका

समाधान—

सम्यग्दर्शन तो परिपूर्ण आत्मस्वभाव को ही मानता है; रागादि का ग्रहण–त्याग करने का कार्य सम्यग्दर्शन का नहीं है, किन्तु चारित्र का है। यथार्थ श्रद्धा का कार्य यह है कि–उपोदय की उपादेयरूप से और हेय की हेयरूप से प्रतीति करना। किन्तु उपादेय को स्वीकार करना और हेय

को त्यागना–यह कार्य चारित्र का है। राजपाट में होने पर भी भरतचक्रवर्ती, श्रेणिक राजा, रामचंद्रजी, भरत के छोटी–छोटी उम्र के बालक और सीताजी आदि को सम्यग्दर्शन था–आत्मभान था। सम्यग्दर्शन होने पर व्रतादि और त्याग होना ही चाहिये–ऐसा नियम नहीं है, किन्तु इतना अवश्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिप्राय का त्याग अवश्य होता है।

[२१३] सच्चा त्याग कौन करेगा ?

प्रश्न : यदि ऐसा जानेगा तो कोई भी जीव त्याग और व्रतादि नहीं करेगा ?

उत्तर : कौन त्याग करता है ? और किसका त्याग करता है ? परवस्तु का ग्रहण और त्याग कोई भी जीव नहीं कर सकते; अपने विकार का त्याग करना है। विकार का त्याग कौन कर सकता है ? जिसे विकार से भिन्न स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वह जीव, विकार का त्याग कर सकता है। राग से भिन्न आत्मस्वभाव को जाने बिना राग का त्याग कौन करेगा ? सम्यग्दर्शन द्वारा राग से भिन्न स्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात् ही राग का यथार्थरूप से त्याग हो सकता है, किन्तु जो जीव अपने शुद्धस्वभाव को नहीं जानता और राग के साथ एकत्व मानता है, वह जीव, राग का त्याग नहीं कर सकेगा। इसलिये इसे समझने के पश्चात् ही सच्चा त्याग हो सकता है। सच्चा त्याग सम्यग्दृष्टि ही कर सकते हैं, मिथ्यादृष्टि को तो इसका ही भान नहीं रहता कि किसका ग्रहण करना और किसका त्याग; फिर उसके त्याग कैसा ?

[२१४] सबसे पहला त्याग मिथ्यात्व का।

धर्म में सबसे पहला त्याग तो मिथ्यात्व का ही होता है। जिनमत में ऐसी परिपाटी है कि सर्वप्रथम बड़े पाप का त्याग कराके, उसके पश्चात् छोटे पाप का त्याग कराते हैं। सबसे महान् पाप मिथ्यात्व का ही है। यदि यथार्थ समझेगा तो सर्वप्रथम जीव, मिथ्यात्व का त्यागी हो जायेगा। आसक्ति के त्याग से और व्रतादि से पूर्व तत्वज्ञान का अभ्यास करना–ऐसा तत्वार्थसार में कहा है। क्योंकि तत्वज्ञान के अभ्यास बिना विषयासक्ति दूर ही नहीं होती और व्रतादि होते ही नहीं। तत्त्व के अभ्यास द्वारा सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व का त्याग होता है। मिथ्यात्व का त्याग क्या त्याग नहीं है ? अनादि से जिसका त्याग नहीं किया था, उसका त्याग किया। यह त्याग अज्ञानियों के नहीं हो सकता।

[२१४] द्रव्यलिंगी मुनि और सम्यग्दृष्टि बालिका में अन्तर!

अनेक वर्षों तक व्यवहारचारित्र पालनेवाले द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के त्याग की अपेक्षा

राजपाट में रहनेवाली आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि बालिका यथार्थ त्यागी है। मिथ्यादृष्टि साधु ने वास्तव में कुछ त्याग किया ही नहीं, मात्र राग मंद किया है, किन्तु सबसे महान् मिथ्यात्व का पाप तो उसके विद्यमान है; और सम्यग्दृष्टि बालिका ने मिथ्यात्व पाप का त्याग करके अनन्त भव का त्याग कर दिया है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के मिथ्यात्व का त्याग न होने से उसमें अनन्तभव ग्रहण करने की शक्ति भरी हुई है। सम्यग्दृष्टि बालिका यदि आठ वर्ष की हो तो वह भी हजारों वर्ष के मिथ्यादृष्टि मुनि की मिथ्या-मान्यता का निडरता से अस्वीकार करती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् विवाह करे और सन्तान भी हो तो उससे कहीं सम्यग्दर्शन में दोष नहीं आता। पाँचवें-छट्ठे गुणस्थान के व्रत अथवा चारित्र न होने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है, किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना तो किसी भी जीव के सम्यग्चारित्र हो ही नहीं सकता। इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करो! [अपूर्ण]

पंचमकाल के अज्ञानी जीवों को धर्म का उपदेश

[श्री समयसार मोक्ष अधिकार गाथा २९८-२९९ के व्याख्यानों से]

[१] धर्मात्मा होना हो तो चैतन्य को समझ!

पंचमकाल में हुए मुनि पंचमकाल के जीवों को धर्म समझाते हैं कि हे जीव! यदि तू अपने चैतन्यस्वभाव को समझ तो तेरे भव का अन्त आयेगा। जो चौथे काल में हो गये हैं उन्हें, अथवा जो समझ गये हैं ऐसे ज्ञानियों को सम्बोधन कर यह नहीं कहते हैं; किन्तु जो सत्य को समझकर आत्मकल्याण करने के जिज्ञासु हैं-ऐसे जीवों को सम्बोधन कर कहा है। 'तू अन्य की सेवा-भक्ति कर तो धर्म हो अथवा कन्दमूल इत्यादि के खाने का त्याग कर तो उतने मात्र से धर्म हो

जायेगा'—ऐसा नहीं कहा है, किन्तु आत्मस्वभाव का ही अनेक प्रकार से व्याख्यान करके वही समझने को कहा है और यह समझने से ही धर्म होता है–ऐसा कहा है। जैसा चैतन्यस्वभाव कहा है वैसा ही अपने ज्ञान में समझ और पश्चात् उसमें स्थिरता कर, तभी तेरे उपवास, दया, व्रत इत्यादि समस्त यथार्थ होंगे; परन्तु वहाँ भी जो प्रतीति और स्थिरता है, वही धर्म है; व्रतादि का जो राग है, वह धर्म नहीं है।

[२] स्वभाव को समझे बिना त्याग नहीं होता

यदि सेवा–भक्ति के भाव से या कन्दमूलादि के त्याग से धर्म होता हो तो अज्ञानी और अभव्य के भी धर्म होता, क्योंकि वे भी सेवा–भक्ति आदि के शुभभाव और कन्दमूलादि का त्याग करते हैं। आचार्य भगवान कहते हैं कि यदि तुझे धर्म करना हो तो सत्समागम से यथार्थ प्रयत्नपूर्वक तू अपने चैतन्यस्वभाव को समझ। यथार्थ प्रतीति होने पर उसमें ही विशेष स्थिरता के द्वारा राग दूर होता है और राग दूर होने पर उसके निमित्त भी नहीं होते। इसप्रकार यथार्थ प्रतीतिपूर्वक पर से उदासीन होकर राग को दूर किया वहाँ 'बाह्य का त्याग किया'—ऐसा उपचार से कहा जाता है। प्रथम आत्मस्वभाव को जाने बिना और उसकी महिमा आये बिना पर से वास्तविक उदासीनता नहीं आती, और अन्तरंग से यथार्थ उदासीनता आये बिना त्याग किसप्रकार कहा जाये? जिसप्रकार 'अन्धा पीसे, कुत्ते खायें'—वैसे ही हे अज्ञानी! तू चाहे जितनी शुभक्रिया कर किन्तु तेरी समस्त शुभक्रिया को मिथ्यात्वरूपी कुत्ते खा जाते हैं। तू चाहे जितना शुभभाव कर किन्तु उससे मिथ्यात्व का महापाप दूर नहीं होगा। मिथ्यात्व का पाप तो यथार्थ समझ से ही दूर होता है।

[३] ज्ञानी क्या करते हैं ?

बोलने की रीति बाह्य से होती है, किन्तु समझने की रीति तो स्वभाव में है। ज्ञानी की भाषा में भी ऐसा आता है कि मैंने यह लिया, यह दिया, यह काम किया; किन्तु वास्तव में तो वह वाणी बोलने का काम भी ज्ञानी ने नहीं किया और परवस्तु को लेने–देने का काम भी वह अपना नहीं मानता, उसने तो मात्र ज्ञान ही किया है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि ज्ञानी ऐसा क्यों करते हैं? अथवा ऐसा क्यों बोलते हैं? किन्तु भाई! यह तो तूने बाह्यप्रकार से देखा है, तुझे अन्तरंगस्वभाव की रीति से देखना नहीं आया। तेरी बाह्यदृष्टि से तुझे मात्र बाह्यक्रिया और राग ही दिखाई दिया, किन्तु ज्ञानी का अन्तर अभिप्राय क्या है और ज्ञानी का ज्ञान क्या काम करता है–इसकी तुझे खबर नहीं पड़ी। बाह्य क्रिया तो बिलकुल स्वतंत्र है और जो राग, ज्ञानी के दिखाई देता है, उसकी भी वह

अपने स्वभाव में स्वीकृति नहीं करता, इसलिये वे राग करते ही नहीं हैं, किन्तु स्वभाव को और राग को भिन्नरूप से जानते ही हैं। जबतक तुझे अपने स्वभाव और राग के बीच भेदज्ञान न होगा तथा जड़ की क्रिया स्वतंत्र भासित न होगी तबतक, ज्ञानी क्या करता है, उसके अन्तरंग की तुझे खबर नहीं हो सकेगी।

[४] जो आत्मा को समझने से इन्कार करते हैं, वे धर्मक्रिया का ही विरोध करते हैं।

धर्म के लिये यथार्थ समझ ही पहली क्रिया है। अभी जो आत्मा की यथार्थ बात समझने का ही इन्कार करते हैं और शरीर की क्रिया को ही जो उपवास-प्रतिक्रमणादि मान रहे हैं तथा उसमें धर्म माने हैं, वे सच्ची धर्मक्रिया का (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का) अनादर करनेवाले हैं, वे आत्मा को नहीं मानते किन्तु जड़ को माननेवाले हैं; इससे उन्हें जड़-शरीर की क्रिया प्रतिभासित होती है, किन्तु आत्मा की चैतन्यक्रिया भासित ही नहीं होती। ऐसे जीवों को धर्म कहाँ से होगा?

[५] जो अपने को पवित्र स्वरूप से जानता है, उसे पवित्रता प्रगट होती है, और जो विकार स्वरूप से जानता है, उसके विकार प्रगट होता है

अपना स्वभाव ही अत्यन्त-अचिन्त्य है, पर से निरपेक्ष है, ज्ञान-आनन्द स्वरूप है। निरपेक्ष का अर्थ है पर के सम्बन्ध से रहित अर्थात् स्वतः परिपूर्ण एकरूप। ऐसे स्वभाव के भान बिना संसार का अंत नहीं आता। शुभ करते-करते कभी भी संसार से छुटकारा नहीं होगा। शुभभाव कहीं मोक्षरूप नहीं होता, किन्तु मोक्षरूप होनेवाला तो आत्मा का पवित्र स्वभाव है, उस स्वभाव को पवित्ररूप से जाने तो पवित्रता हो। जो वस्तु मोक्षरूप होती है, यदि उसे ही न जाने तो मोक्ष कहाँ से हो? जो क्षणिक विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा का स्वरूप तो त्रिकाल विकार रहित है-पवित्र है, उसमें से ही मोक्षदशा प्रगट होती है। यदि अपने आत्मा को पवित्रस्वरूप से जाने तो अपवित्र भावों का नाश करके पवित्रदशा प्रगट कर ले और यदि अपने आत्मा को विकारयुक्त ही माने तो विकार की दृष्टि से विकार ही करता रहे, किन्तु उसे दूर न करे। यदि अपने आत्मा को जड़ का कर्ता माने, शरीरयुक्त माने तो जड़-शरीर का सम्बन्ध न टूटे। अपने को जड़रूप मानने से जीव स्वयं जड़ तो नहीं हो जाता, किन्तु उसके जड़ का सम्बन्ध और उसका लक्ष्य नहीं छूटता। इसलिये जड़ के संयोग से और विकारी भावों से रहित अपने पवित्र ज्ञानस्वभाव को जानना ही पवित्र होने का उपाय है। 'पवित्र स्वरूप को जानना' इसके अतिरिक्त मोक्ष का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इससे इस मोक्ष अधिकार में कहा है कि जो ज्ञाता-दृष्टा भाव है, सो ही मैं हूँ, अर्थात् मैं

अपने स्वरूप का ही जानने-देखनेवाला हूँ, ज्ञाता-दृष्टा भाव के अतिरिक्त जो भी भाव हैं, वे सब मेरे स्वरूप से पर हैं; इसप्रकार प्रज्ञा द्वारा अन्तरंग में भिन्नत्व को देखना और पश्चात् उस प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा में एकाग्र होना और पुण्य-पापरूप समस्त भावों को छोड़ देना। इसप्रकार 'प्रज्ञा' ही मुक्ति का मार्ग है। यदि कोई जीव अशुभ को छोड़कर शुभ करे तो उतना करने के लिये ज्ञानी इन्कार नहीं करते, किन्तु इससे उस जीव का कल्याण नहीं है, धर्म नहीं है। धर्म का मार्ग और शुभराग का मार्ग भिन्न-भिन्न है। यह कहीं शुभ का मार्ग नहीं है, यह तो स्वभाव का मार्ग है। जिस मार्ग पर अनन्तकाल से चला आ रहा है, उससे भिन्न प्रकार का यह मार्ग है।

[६] श्री गणधरदेव कैसी सामायिक करते हैं ?

श्री गणधरदेव, इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव इत्यादि समस्त महापुरुष इस मार्ग को जानकर इसी का आदर करते हैं। धर्मात्मा जीव मात्र ज्ञायकभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी भावों का आदर नहीं करते, और उनको अपना नहीं मानते। श्री गणधरदेव भी सामायिक करते हैं, किन्तु यह सामायिक कैसी ? अज्ञानी जीव जिसे सामायिक कहते हैं, यह वैसी नहीं होती, किन्तु अपने स्वाधीन चैतन्यतत्व के स्वानुभव में लीन होने पर परभावों से बिल्कुल उदासीनता हो जाती है, ऐसी यह सामायिक होती है। वहाँ पुण्य-पाप के भावरूप विषमता अनुभव में नहीं आती, किन्तु मात्र समभाव-ज्ञाताभाव का ही अनुभवन होता है। यदि पहले पुण्य-पाप से भिन्न स्वभाव को जाना हो, तभी तो उसमें स्थिर हो सके ? बाह्य के लक्ष से जो परभाव होता है, वह मेरे स्वभाव की जाति से भिन्न है—ऐसा जिसने नहीं जाना और जो परभाव को ही अपनी जाति का जानकर उसमें लीन हो रहा है, वह जीव परभावों से हटकर स्वभाव में किसप्रकार स्थिर होगा ? और स्वभाव में स्थिर हुए बिना परभावों से उदासीनता कैसे होगी ? तथा परभावों से उदासीनता हुए बिना समभावरूप सामायिक कहाँ से हो ? जो वस्तु अपनी है, उसे जाने बिना किसी भी प्रकार का धर्म होता ही नहीं। धर्म की रीति यही है कि-अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा प्रथम आत्मा को ऐसा जानना कि जो ज्ञान-दर्शन द्वारा चेतहारा है, सो ही निश्चय से मैं हूँ, अन्य जो समस्त भाव हैं, वह मैं नहीं हूँ।

[७] ज्ञानी किससे अपनी महत्ता मानते हैं।

जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की रुचि है, किन्तु आत्मा की रुचि नहीं है। क्योंकि पुण्य का फल जड़ का संयोग है। देवपद मिलता है, उससे ज्ञानी आत्मा की महत्ता नहीं मानते। देवपद क्या है ? देवपद तो राग का, विकार का फल है और देवपद का शरीर तो जड़ है। 'क्या मैं विकाररूप या जड़रूप हो जाऊँगा ? क्या विकार से या जड़ से आत्मा की शोभा है ? नहीं। मेरी

महत्ता तो मेरी स्वभावदशा से ही है', इसप्रकार ज्ञानी के स्वभाव की रुचि है, और विकार तथा संयोग के प्रति उदासीनता होती है। किन्तु जिनके पुण्य की या देवपद की उमंग है, उनको आत्मा के स्वभाव की रुचि नहीं है, अर्थात् धर्म की ही रुचि नहीं है। ज्ञानी कहते हैं कि मैं रागरूप नहीं होऊँ, और स्वर्ग का देव नहीं होऊँ किन्तु मैं तो अपने स्वभाव में रहकर जड़ के संयोग से रहित सिद्ध होऊँगा।

शूद्र की सम्पत्ति का मालिक शूद्र होता है, किन्तु वणिकपुत्र शूद्र के धन का मालिक होने नहीं जाता। वैसे ही आत्मा का उत्तम ज्ञानस्वभाव है, उससे हटकर पुण्य करके जो देव होने की भावना करता है, वह शूद्र के समान विकार का स्वामी होता है, और जो जड़ का स्वामी बनता है, वह जड़ के समान मूढ़ हो जायेगा।

यदि कोई ज्ञानी को पुण्य का अथवा जड़ का स्वामी बतलाए तो ज्ञानी उसे नहीं मानता। किन्तु कोई कहे कि 'तुम भगवान होगे' तो उल्लासपूर्वक उसके अन्तर से स्वीकृति आती है कि मैं अपनी अपूर्णदशा को अल्पकाल में पूर्ण करनेवाला हूँ। मैं भगवान होनेवाला हूँ, किन्तु रागरूप होनेवाला नहीं हूँ। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि तो आत्मस्वभावरूप ही रहता है। इसप्रकार स्वभाव का आदर और विकार का निषेध-ऐसा जो भेदज्ञान है, सो ही मोक्ष का उपाय है।

[८] अज्ञानी जीवों को भेदज्ञान करने के लिये उपदेश।

ज्ञानीजन अपने को प्रतिसमय राग से भिन्न स्वभावरूप से अनुभवते हैं, किन्तु विकाररूप या विकार के फलरूप कभी भी अपने को नहीं अनुभवते। जिन्हें स्वभाव का भान नहीं है, ऐसे अज्ञानी अपने को राग और जड़ का स्वामी मानते हैं, इसलिये वे विकार का ही अनुभव करते हैं, किन्तु स्वभाव का अनुभवन नहीं करते। यहाँ पर आचार्यदेव ऐसे जीवों से कहते हैं कि-जो ज्ञाता-दृष्टा शक्ति है, वही तुम हो! जो राग है, सो तुम नहीं; किन्तु तुम ज्ञान ही हो। ज्ञान और आत्मा दोनों एकमेक हैं, किन्तु राग के साथ तेरा एकत्व नहीं है, इसलिये अपनी भेदज्ञानशक्ति को प्रगट करके तू अपने चेतकस्वभाव का अनुभवन कर। मेरा स्वभाव 'चेतक' है किन्तु राग नहीं है-इसलिये मैं सदैव चेतक-ज्ञाता-दृष्टारूप ही रहूँगा, किन्तु विकाररूप नहीं होऊँगा। ऐसे विकार और स्वभाव को भिन्नरूप से जानकर, पूर्ण ज्ञाता-दृष्टारूप ही रहना और विकाररूप न होना, वही मोक्ष है।

[९] पुण्य अनन्तबार किया है, किन्तु आत्मा की यथार्थ प्रतीति एकबार भी नहीं की। पुण्य कर्तव्य नहीं, किन्तु यथार्थ प्रतीति ही कर्तव्य है।

'आत्मा की यथार्थ प्रतीति ही मोक्ष का उपाय है; पुण्य, मोक्ष का उपाय नहीं है।'—धर्म का

ऐसा सच्चा स्वरूप सुनकर अनेक अज्ञानी जीव कहते हैं कि ''पहले पुण्य करके देवलोक में तो जाने दो, इससमय भरतक्षेत्र में मोक्ष कहाँ है ? पंचमकाल में यहाँ मोक्ष तो है ही नहीं, व्यर्थ ही किसलिये सच्चा समझने की बात कर-करके पुण्य से भी छुटवाये देते हो ? इससमय मनुष्यभव पाया है तो मनमाना पुण्य कर लेना चाहिये, पीछे सत् को समझेंगे। पुण्य करते-करते ही कभी सत् भी समझ में आ जायेगा !''

ज्ञानी उनसे कहते हैं कि-अरे भाई ! पुण्य की चाह कर-करके तू यह अनंतकाल में मिला हुआ मनुष्यभव हार जानेवाला है। सत्य प्रतीतिरूपी डोरा पिरोये बिना तेरी सुई (तेरी आत्मा) चौरासी के इस चक्कर में कहीं खो जायेगी। और यदि यथार्थ प्रतीतिरूपी डोरा पिरो लेगा तो चाहे जहाँ जाये, किन्तु तेरी सुई खो नहीं सकेगी। अनन्त-संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने पुण्य तो अनन्तबार किया है, किन्तु आत्मा क्या है ? इसकी यथार्थ प्रतीति एकबार भी नहीं की। इस मनुष्यभव में भी यदि सत्यस्वरूप समझने से इन्कार किया तो फिर अन्यत्र कहाँ जाकर समझेगा ? पुण्य के द्वारा आत्मा की प्रतीति नहीं होगी और भव का भी अंत नहीं आयेगा। इसलिये इस पंचमकाल में भी आत्मा की प्रतीति करना, यही कर्तव्य है। यही धर्म है, और यह इससमय भी हो सकता है।

''इससमय पुण्य करके यहाँ से जाकर देव होऊँगा और पश्चात् श्री सीमंधर भगवान के समवसरण में जाकर समझूँगा और मोक्ष जाऊँगा''—ऐसा तू कहता है, किन्तु अरे भाई ! यदि तुझे वास्तव में धर्म की रुचि हो तो इसीसमय यहीं पर समझले न ! तेरा भगवान तो इससमय भी तुझमें विद्यमान है। तेरा पुण्य-पापरहित जो पूर्णस्वभाव है, वही भगवान है, यहाँ पर उसकी श्रद्धा करने का जो इन्कार करता है, तब फिर देवभव में संयोगों में फँसकर भगवान के पास जायेगा ही कैसे ? और यदि कदाचित् जायेगा तो भी भगवान के पास जाकर तू क्या करेगा ? 'सीमंधर' अर्थात् अपने स्वरूप की मर्यादा को धारण करनेवाले। तू अपने स्वभाव की मर्यादा का धारक हैं, तुझे अपने रागरहित चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा करना, सो ही परमार्थ से सीमंधर भगवान से भेंट है। सीमंधर भगवान भी स्वभाव का ही उपदेश करते हैं। तू यहीं से स्वभाव की अरुचि और पुण्य का आदर करके मिथ्यात्वभाव का पोषण करता जा रहा है, तो वहाँ जाकर तुझे सत्स्वभाव को समझने का अवकाश ही कहाँ से मिलेगा ?

[१०] पुण्य करते-करते धर्म होता है या नहीं ?

कितना विष इकट्ठा करने से अमृत होता है ? चाहे लाख गुना करो, चाहे अनन्तगुना, किन्तु

विष को जोड़ने से अमृत आयेगा ही नहीं। उसीप्रकार चाहे जितना पुण्य एकत्रित करो किन्तु धर्म नहीं होगा, क्योंकि पुण्य तो विकार है और स्वभाव अविकारी है, विकार का गुणा करने से स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् पुण्य करते-करते किसी भी समय धर्म नहीं होता।

[११] आत्मा में क्या बढ़ाना और क्या घटाना ?

जैसा अपना गुण है, वैसा पहिचानकर उस गुण के आकाररूप अपनी परिणति करे तो वह यथार्थ गुणाकार है; और जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, उन सब को आत्मा में से घटाकर मात्र स्वभाव को शेष रखना, सो सच्ची बाकी है। गुण की वृद्धि और दोषों की हानि करते-करते जैसा परिपूर्ण स्वभाव है, वैसा रह गया और दोष दूर हो गये, उसका नाम मोक्ष है। जिसने पहले भेदज्ञान के द्वारा गुण-दोष को जाना हो अर्थात् स्वभाव और विकार को भिन्न पहिचाना हो, वह जीव, गुण के अंश की वृद्धि और राग की हानि करके पूर्णता प्रगट करता है, किन्तु जिसने गुण-दोष भिन्नरूप नहीं पहिचाने हैं, उसे तो इसका ही भान नहीं रहता कि आत्मा के साथ किसका गुणाकार करना चाहिये और किसे निकाल देना चाहिये।

[१२] ज्ञानियों ने भेदज्ञान को ही मोक्ष का उपाय हाना है

यहाँ आचार्यदेव महान कृपा करके कहते हैं कि अन्य सभी बातें निकाल दे और स्वीकार कर कि मैं ज्ञाता-दृष्टाभाव ही हूँ, और राग का अंश भी मेरा नहीं है। एक बार भी प्रज्ञाछैनी द्वारा दो भाग करके राग से भिन्नत्व का अनुभव करने के पश्चात् जो भी राग की वृत्ति आती हैं, वह उन सबका ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। ज्ञाता-दृष्टाबुद्धि की भूमिका में पुरुषार्थ की हीनता से राग की वृत्ति आती है, किन्तु वह कर्ताबुद्धि से नहीं आती। इसलिये तू भेदज्ञान के द्वारा भिन्न चेतन को ग्रहण करके उसमें ही लीन हो। यही मुक्ति का उपाय है। बंधन की नास्ति और मोक्ष की प्राप्ति का उपाय—यह भेदज्ञान ही ज्ञानियों ने जाना है, और उसी का उपदेश दिया है।

[१३] जानने का काम करनेवाली पर्याय है, गुण नहीं

भेदज्ञान पर्याय है, गुण नहीं है। जानने का कार्य पर्याय करती है, गुण जानने का कार्य नहीं करता। गुण का परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, अर्थात् गुण की वर्तमान अवस्था बदलती रहती है। बदलती हुई अवस्था तो त्रिकाली गुण को जानती है, किन्तु जो सम्पूर्ण गुण है, वह पर्याय को नहीं जानता। सम्पूर्ण गुण तो सभी जीवों के हैं, किन्तु जिन जीवों ने उनकी पहिचान करके पर्याय में जितना ज्ञानसामर्थ्य प्रगट किया है, उतना जानने का कार्य करते हैं। पर्याय स्वतः अपूर्ण

सामर्थ्यवाली होने पर भी, वह स्वयं परिपूर्ण गुण को जानती है। वर्तमान में विद्यमान अंश त्रिकाल में से आता है और वह वर्तमान अंश त्रिकाल पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करता है–ऐसा यहाँ बताया है। वर्तमान अंश तो प्रत्येक जीव के प्रगट है, उस अंश के द्वारा ही कार्य होता है। यदि वह अंश अन्तर्मुख होकर त्रैकालिक स्वभाव को स्वीकार करे तो उसके अवलम्बन से पर्याय में वृद्धि होकर पूर्णता प्रगट होती है; यही मोक्ष है, और यदि वह अंश बहिर्मुख होकर अपने को विकाररूप ही माने तो पर्याय में विकार ही होता रहता है, यही संसार है।

[१४] पर्याय का कारण द्रव्य है, उसके अवलम्बन से मुक्ति प्रगट होती है।

अवस्था स्वत: अंश है, कार्य है, वर्तमान जितना भाव है। अंश, पूर्णता बिना नहीं होता, कार्य कारण के बिना नहीं होता, और वर्तमान है, सो त्रिकाली बिना नहीं होता। अवस्थारूपी कार्य किस कारण में से आता है ? वर्तमान जितने कारण में से आता है, कि त्रिकाली कारण में से आता है ? त्रैकालिक द्रव्यस्वभाव ही तीन काल की पर्यायों का कारण है। यहाँ पर्याय का कारण त्रिकाली द्रव्य को कहा है, क्योंकि त्रैकालिक द्रव्य का परिणमन होकर ही पर्याय प्रगट होती है। किन्तु पर्याय में जो राग–द्वेष अज्ञानरूप भाव होते हैं, उन विकार भावों का कारण कहीं त्रैकालिक द्रव्य नहीं है, किन्तु वह पर्याय स्वत: परसन्मुख होकर विकाररूप परिणमित होती है। अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर कारण की अपेक्षा नहीं है, किन्तु स्वभाव में से प्रगट होती है–ऐसा समझकर यदि पर्याय में अपने त्रैकालिक कारणस्वभाव का अवलम्बन ले तो पर्याय की कार्यशक्ति पूर्ण प्रगट होती है। स्व–द्रव्य के अवलंबन से मुक्ति है, और परद्रव्य के अवलम्बन से बंधन है।

[१५] ज्ञान अपना है, राग अपना नहीं है।

स्वद्रव्य तो ज्ञानमय ही है, किन्तु राग, परद्रव्य है। वास्तव में ज्ञान और राग एकमेक होकर नहीं रहते, किन्तु भिन्न रहते हैं। ज्ञान, राग को करता नहीं किन्तु जानता है। कोई परजीव मरे या बचे, ज्ञान उसे जानता है, किन्तु ज्ञान किसी को मार या बचा नहीं सकता। पहले पर के साथ सम्बन्ध मानकर तीव्र राग–द्वेष करता हो और पश्चात् ऐसी भावना हो कि अहो! मुझे पर के साथ क्या सम्बन्ध है, मेरा राग–द्वेष मुझे ही दु:खदायक है–इस भावना से राग–द्वेष कम हो गया। पहले अधिक राग–द्वेष था और अब कम राग–द्वेष है–इसप्रकार दोनों को ज्ञान जानता है। पहले का राग–द्वेष दूर हो गया है, किन्तु उसका ज्ञान दूर नहीं हो गया है, क्योंकि राग–द्वेष अपना नहीं है और ज्ञान अपना है।

[१६] ज्ञान में राग नहीं है और राग में ज्ञान नहीं।

जिस समय तीव्रराग था, उस समय भी ज्ञान उससे भिन्न था, और मंदराग के समय भी ज्ञान उससे भिन्न है। दोनों पर्यायों के समय ज्ञान ज्ञातारूप से अखण्ड रहा है और जानने का कार्य भी ज्ञान ने स्वतः परिणमित होकर किया है। 'यह राग-द्वेष है'—यह जानने की शक्ति राग-द्वेष में नहीं है किन्तु ज्ञान की शक्ति से ही वह जाना जाता है। पहले तीव्र राग-द्वेष को जाननेरूप ज्ञानपर्याय थी, पश्चात् मंद राग-द्वेष को जाननेरूप ज्ञानपर्याय हुई; इसप्रकार ज्ञान स्वतः परिणमित होकर जानता है। देखो! राग-द्वेष घटने लगा, तथापि यहाँ पर ज्ञान विशेषरूप से विकसित होने लगा, और ज्ञान बढ़ा किन्तु राग नहीं बढ़ा। इसलिये राग से ज्ञान नहीं होता और ज्ञान से राग नहीं होता; किन्तु त्रैकालिक ज्ञानमय एक वस्तु है, उसमें से ज्ञान प्रगट होता है, और उसमें राग का अभाव है। इस प्रमाण से राग और स्वभाव में यथार्थ भेदज्ञान करके आत्मानुभव करना, सो ही मोक्ष का उपाय है, वही धर्म है।

[१७] निमित्त के कारण राग-द्वेष नहीं है, और ज्ञान के कारण भी राग-द्वेष नहीं होता।

किसी ने गाली दी और उस ओर लक्ष जाने पर तीव्र द्वेष हुआ; वह द्वेष गाली के कारण नहीं हुआ, उसीप्रकार गाली का ज्ञान किया उस कारण से भी नहीं हुआ। क्योंकि राग-द्वेष का कारण परद्रव्य नहीं है और ज्ञान भी राग-द्वेष का कारण नहीं है; किन्तु स्वतः ज्ञान की एकाग्रता से विचलित हुआ-उसी से राग-द्वेष होता है। केवली भगवान भी उस गाली को जानते हैं एवं वीतरागी संत-मुनि भी उस गाली को जानते हैं, तथापि उन्हें राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि वे ज्ञान की एकाग्रता से विचलित नहीं होते। इस न्याय से यह सिद्ध हुआ कि पर के कारण राग-द्वेष नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत होने से ही राग-द्वेष होता है और वह राग-द्वेष, ज्ञानस्वभाव में नहीं है। इसतरह निमित्त भिन्न हैं, राग-द्वेष भिन्न हैं और ज्ञानस्वभाव भिन्न हैं।

[१८] ज्ञान और राग के भिन्नत्व का अनुभव करके ज्ञान का ग्रहण और राग का त्याग करना, सो मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार किसी भी परपदार्थ के कारण राग-द्वेष नहीं होता; किन्तु अपनी ही परोन्मुखता से होता है-ऐसा निश्चित् करते ही अपना विचार पर में से हटकर स्वोन्मुख हुआ। जहाँ स्व की ओर का विचार करने लगा, वहाँ राग-द्वेष तो कम होने लगे और ज्ञान बढ़ने लगा; इसलिये राग और ज्ञान तो भिन्न ही हैं, क्योंकि यदि राग और ज्ञान एक होते तो जैसे-जैसे राग-द्वेष बढ़ें, वैसे ही ज्ञान भी

बढ़ें और जैसे-जैसे राग-द्वेष घटें, वैसे ही ज्ञान भी कम होता जाये, किन्तु यहाँ तो विपरीत ही दिखाई देता है। अर्थात् जैसे-जैसे स्वभाव के लक्ष से ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे ही राग-द्वेष दूर होते जाते हैं, इसलिये राग-द्वेष, ज्ञान का उपाय नहीं है, और ज्ञान में राग-द्वेष नहीं हैं। अन्य प्रकार से कहा जाये तो ज्ञान, राग-द्वेष का कर्ता नहीं है, और राग-द्वेष, आत्मा का कार्य नहीं है। राग के आधार से मेरा ज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने त्रैकालिक कारणस्वभाव में से ज्ञान का कार्य प्रगट होता है। ऐसे भेदज्ञान का साक्षात् अनुभव करना, सो ही आत्मा का ग्रहण और रागादि बंध का त्याग है। आत्मा और बंध के बीच उपरोक्तानुसार पृथक्करण करके जिस स्वभाव का अपनेरूप अनुभव किया, उस स्वभाव में अभेद होकर ही पूर्णता होती है। आत्मस्वभाव को जानकर उसको ग्रहण करना ही आदि का, मध्य का और अन्तिम उपाय है। प्रारम्भ में वह है, पश्चात् वह है और अन्त में भी वही है। बीच में दूसरे बंधभाव आयें तो वह उपाय नहीं है, किन्तु उन बंधभावों को 'स्वभाव से भिन्न हैं'-ऐसा जानकर छोड़ देना, सो मुक्ति का उपाय है।

[१९] परद्रव्य के कारण राग नहीं है, और पठन-श्रवण के राग के कारण ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञान की एकाग्रता से ही ज्ञान होता है।

कोई गाली दे तो उसके कारण क्रोध नहीं होता। उसीप्रकार किसी भी परद्रव्य से राग या द्वेष नहीं होता-यह तो परद्रव्यों से अपनी पृथक्ता बतलाई है। किंतु यहाँ पर 'आत्मा में राग-द्वेष नहीं, और राग-द्वेष में आत्मा नहीं है'—ऐसा आत्मा और राग का भिन्नत्व समझाना है। ऐसे भिन्नत्व को जानकर स्व-सन्मुख होने से राग-द्वेष दूर हुआ और ज्ञान की निर्मलता बढ़ी। स्व-सन्मुख ज्ञान की एकता होकर जो निर्मलभाव प्रगट हुआ, वह गुण नहीं किन्तु पर्याय है। वह वर्तमान में नवीन प्रगट हुआ है, पूर्व की अवस्था में से वह निर्मल अवस्था नहीं आई है; किन्तु ज्ञानस्वभाव अर्थात् जागृतचेतन सत्ता स्थायी पूर्ण निर्मल है, उसमें से ही विशेष निर्मलदशा हुई है।

यदि कोई कहे कि बहुत पढ़ने से ज्ञान बढ़ेगा, अथवा बहुत सुनने से ज्ञान बढ़ जायेगा-तो उसकी बात मिथ्या है; और वैसा माननेवाले के राग में एकत्वबुद्धि है, किन्तु राग और ज्ञान के बीच भेदज्ञान नहीं है। ज्यों-ज्यों श्रवण या पठन बढ़े, त्यों-त्यों ज्ञान नहीं बढ़ता, किन्तु जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर राग का नाश करे, वैसे ही वैसे ज्ञान की वृद्धि होती है। श्रवण और पठन के ओर की वृत्ति तो राग है, क्या राग बढ़ाने से ज्ञान बढ़ेगा? जिसप्रकार का कार्य हो, उसीप्रकार का कारण होता है। ज्ञान का कारण रागमय नहीं होता, किन्तु ज्ञानमय ही होता है।

ज्ञानरूपी कार्य का कारण तो अंतरंग में जो शक्ति भरी है–वह है। उस शक्तिस्वभाव के अवलम्बन से भेदज्ञान होता है, और उसी के अवलम्बन से मोक्षदशारूपी कार्य प्रगट होता है तथा भेद का लक्ष और राग नष्ट हो जाता है। परद्रव्य तो भिन्न हैं ही।

[२०] मोक्षार्थी को किसका आलम्बन है ?

एकमात्र चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त मोक्षार्थी के किसी का अवलम्बन नहीं है। अपने चैतन्यतत्व की एकाग्रता द्वारा जितनी ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव की निर्मलता बढ़ती जाती है, उतना ही मैं हूँ और रागादि नाश होते जाते हैं; इसलिये वह मैं नहीं हूँ। ऐसे भेद करके चैतन्यस्वभाव के अनुभव में लीनता करना, सो परमानन्द से परिपूर्ण मोक्षदशा का उपाय है।

इसप्रकार आचार्य भगवान ने करुणा करके पंचमकाल के जीवों को मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया है, और उसे समझकर पंचमकाल के जीव मुक्तिमार्ग प्रगट कर कहते हैं।✦

भेद-विज्ञान

[श्री समयसार मोक्ष-अधिकार के व्याख्यानों से]

आत्मा की छाप (लक्षण) चैतन्यस्वरूप है। उस चैतन्यस्वरूपी आत्मा के बदले यदि कोई अज्ञानी, विकार को आत्मा के रूप में समझे तो उससे आत्मा का स्वभाव कहीं विकाररूप नहीं हो जाता; जबतक आत्मा को विकारी मानता है, तबतक जीव का दु:ख दूर नहीं हो सकता। चैतन्य जिसका चिह्न है–ऐसे आत्मा के स्वभाव में किसी राग या विकार का प्रवेश नहीं है, इसलिये चैतन्यस्वभाव में से उन सबका भेद किया जा सकता है, किन्तु चैतन्य तो आत्मा के साथ अभेद है; इसलिये उसे भेदा नहीं जा सकता। आत्मा को किसप्रकार ग्रहण करना और बंधभाव को किसप्रकार छोड़ना ?—उसका उपाय बतलाते हुये आचार्यदेव श्री समयसारजी के १८२ वें कलश में कहते हैं कि 'जो कुछ भेदा जा सकता है–उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर, जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है–ऐसा शुद्धचैतन्य ही मैं हूँ'—ऐसी प्रज्ञा द्वारा आत्मा का

ग्रहण किया जा सकता है। प्रज्ञा द्वारा भेदा जा सके, उस सबको भेदना, अर्थात् आत्मा को और रागादि बंधभावों को भेदा जा सकता है, इसलिये उसे भेदना-भिन्न जानना; किन्तु ज्ञान और आत्मा को नहीं भेदा जा सकता, वह तो निर्भेद हैं; इसलिये उस गुण-गुणी भेद का भी लक्ष नहीं करना चाहिये। आत्मस्वभाव की निर्विभाग महिमा है, इससे अनंतकाल से पर्याय में विकार होने पर भी स्वभाव की महिमा किंचित् भी कम नहीं हुई और विकार कभी एक समयमात्र से किंचित् भी बढ़ा नहीं है। आत्मा में कहीं विकार के परत के ऊपर परत नहीं चढ़ते, अर्थात् एक से अधिक पर्यायों का विकार एकत्रित नहीं होता, उसकी स्वभाव महिमा तो निरंतर परिपूर्ण विकाररहित वर्तमान वर्तती है। किन्तु आत्मा ने स्वत: विपरीत मान्यता करके बंधभाव के द्वारा एक समयमात्र का संसार उत्पन्न किया है, तथापि स्वभाव से तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्यमूर्ति परमात्मा है। सम्यग्ज्ञान द्वारा शुद्धस्वभाव और बंधभाव के बीच का भेद जानकर, बंध को प्रथक् किया जा सकता है और स्वभाव का ग्रहण किया जा सकता है।

जीव का संसार अर्थात् बंधभाव किसी पर-पदार्थ के कारण से नहीं हुआ है, और चैतन्य के स्वभाव में भी वह नहीं है; मात्र एक समय की अपनी योग्यता से, स्वभाव की एकता को तोड़कर एक-एक समय बंधभाव में स्थिर होकर अनंतकाल व्यतीत किया है। यदि स्वभाव के लक्ष से एक समयमात्र भी बंधभाव के साथ के एकत्वपने की मान्यता को जीव उड़ा दे तो उसके बंधभाव का अवश्य नाश हो जाय। परन्तु चैतन्यस्वभाव और बंधभाव को भिन्नरूप न जाने और स्वभाव की ओर लक्ष न करे तो कहीं बंधभाव अपने आप दूर नहीं होता। अपने स्वभाव-सामर्थ्य को जाने बिना जीव ने अनंतकाल से अपना निर्माल्यपना ही माना है कि 'कर्म मुझे हैरान करते हैं और मुझे पर पदार्थों की सहायता चाहिये।' किन्तु ज्ञानी उसे भेदज्ञान कराते हैं कि हे भाई! तू तो चैतन्यस्वभाव है, तेरे स्वभाव में विकार का भी प्रवेश नहीं है तो फिर जड़कर्म होंगे ही कहाँ से? इसलिये कर्मों का और विकार का भी लक्ष छोड़कर तू अपने चैतन्यस्वभाव को देख। एकबार अंतरंग से महिमा लाकर तू अपने चैतन्य-सामर्थ्य की हाँ तो कह। आत्मा, आत्मा में है और कर्म, कर्म में है। जहाँ एक द्रव्य में अन्य द्रव्यों का प्रवेश ही नहीं तो फिर अन्य द्रव्यों के साथ तुझे क्या प्रयोजन है? तुझे अपनी अज्ञानदशा का ही दु:ख है, कर्मों का दु:ख नहीं। दु:ख का कारण जो तेरी विकारीदशा है, वह भी तेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये तुझे विकार और आत्मा को बीच का भेदज्ञान बताते हैं, यह भेदज्ञान ही दु:ख टालने का उपाय है।

प्रश्न — चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही ग्रहण करना कहा है, किन्तु 'मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ,' ऐसा लक्ष में लेने को जाते हुए भी भेद का विकल्प आये बिना रहता ही नहीं है, तो फिर विकल्परहित आत्मा का ग्रहण किसप्रकार किया जाय ?

उत्तर — प्रथम भूमिका में गुण-गुणी भेद इत्यादि का विचार आयेगा अवश्य, किन्तु आत्मा के चैतन्य लक्षण से उसे भिन्न जानकर, अभेद चैतन्य की ओर उन्मुख होना। भले ही बीच में भेद आये, किन्तु यथार्थरूप से छह कारकों में चैतन्य वस्तु एक ही है, उस चैतन्य में कोई भेद नहीं है। इसप्रकार चैतन्यस्वभाव की मुख्यता करके और भेद को गौण करके स्वरूपोन्मुख होकर भावना करने से ही चैतन्य का ग्रहण होता है, वही सम्यग्दर्शन है, और उसी उपाय से मोक्ष होता है।

[भगवान श्री कुन्दकुन्द प्रवचनमंडप की दीवारों पर २९ सुन्दर चित्र बने हैं, जिन्हें देखते ही परमपवित्र संतों का स्मरण होता है, और ज्ञान-ध्यान-भक्ति-वैराग्य एवं निश्चलता के पुरुषार्थप्रेरक दृश्य देख-देखकर जिज्ञासुओं का आत्मा डोलने लगता है। उन चित्रों का संक्षिप्त विवरण यहाँ पर दिया जाता है।]

(१) भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव वन में ताड़पत्र पर समयसार शास्त्र लिख रहे हैं।

(२) परमपूज्य, परमोपकारी गुरुदेवश्री कानजीस्वामी।

(३) श्री धरसेन आचार्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि नामक मुनिवरों को षटखण्डागम का ज्ञान दे रहे हैं। (आचार्यदेव का स्वप्न तथा मुनियों की मंत्रसाधना को भी दिखाया है।)

(४) श्री श्रेयांसकुमार, मुनिदशा में स्थित भगवान श्री ऋषभदेव को पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक इक्षुरस का आहार दे रहे हैं।

(५) शाश्वततीर्थ श्री सम्मेदशिखरजी।

(६) श्री नेमिनाथ भगवान की लग्नयात्रा और दीक्षा प्रसंग।

(७) श्री सीमंधर भगवान की माता जी के १६ स्वप्न और गर्भकल्याणक के शुभप्रसंग पर इन्द्र, इन्द्राणी आदि दिव्य वस्त्राभूषण से माता-पिता की पूजन कर रहे हैं।

(८) श्री सीमंधर भगवान के जन्मकल्याणक के प्रसंग पर इन्द्र ऐरावत हाथी पर भगवान को लेकर मेरु पर्वत पर जाता है और वहाँ जन्माभिषेक करता है।

(९) श्री सीमंधर भगवान का दीक्षा कल्याणक प्रसंग।

(१०) श्री सीमंधर भगवान का केवलज्ञान कल्याणक प्रसंग।

(११) चेलना रानी, यशोधर मुनिराज का उपसर्ग दूर करती है, और श्रेणिक राजा जैनधर्म के श्रद्धालु होते हैं।

(१२) लंका पर विजय प्राप्त कर श्री सीताजी को लेकर श्री रामचन्द्रजी उसी समय भगवान शांतिनाथ के मन्दिर में जाकर सीताजी, लक्ष्मण, विशल्या, हनुमान, सुग्रीव और भामण्डल सहित नृत्य-संगीत पूर्वक भगवान की भक्ति स्तुति कर रहे हैं।

(१३) श्मशान में ध्यानस्थ सुदर्शन सेठ को दासी द्वारा बुलवालकर अपनी कुवासना की इच्छा में न फँसते देखकर अभयारानी विडम्ब बनाती है; राजा की आज्ञा से सुदर्शन सेठ का वध करते समय तलवार नहीं चलती और सेठ दीक्षा धारण करते हैं।

(१४) सुकौशल के पिता कीर्तिधरमुनि को आहार लेने के लिये नगर में आता देखकर सुकौशल की माता सहदेवी उन मुनि को नगर के बाहर निकलवा देती है। मुनिराज नगर के बाहर ध्यान में बैठ जाते हैं। रोती हुई धायमाता से मुनि का वृतांत सुनकर सुकौशलकुमार मुनि के पास दौड़े जाते हैं और वहाँ अश्रुपात करते हैं तथा दीक्षा लेते हैं। सहदेवी पुत्र के शोक में दु:खी होकर मृत्यु को प्राप्त करती है और बाघण होती है तथा ध्यानमग्न सुकौशल मुनि का भक्षण करती है, सुकौशल अंतकृत केवली होते हैं, बाघण कीर्तिधर मुनि के उपदेश से जातिस्मरणज्ञान को प्राप्त कर संन्यास धारण करती है और देवलोक में जाती है।

(१५) नवपरिणित वज्रबाहुकुमार अपनी रानी मनोदया और साले उदयसुन्दर सहित ससुराल की ओर जाते हैं। मार्ग में ध्यानस्थ मुनि को देखकर वज्रबाहुकुमार उनकी ओर एकटक देखते रह जाते हैं, तब उदयसुन्दर हँसी उड़ाता है, वज्रबाहु दीक्षित होते हैं, साथ में उदयसुन्दर तथा

२६ राजकुमार दीक्षित होते हैं, और मनोदया अर्जिका होती हैं।

(१६) कैलास पर्वत पर भरतचक्रवर्ती द्वारा प्रतिष्ठापित भूत, वर्तमान, और भविष्य की चौबीसी के जिनबिंब तथा भरत चक्रवर्ती द्वारा मुनि श्री बाहुबलि जी की पूजन और केवलज्ञान को प्राप्त बाहुबलि जी का दृश्य।

(१७) महावीर भगवान का जीव पूर्व के दसवें भव में सिंह पर्याय में था और हिरण का शिकार कर रहा था। उससमय दो चारणऋद्धिधारी मुनि आकाशमार्ग से जा रहे थे, वे नीचे आते हैं और उपदेश देते हुए कहते हैं कि—'अरे हे सिंह! तुझे दसवें भव में तीर्थंकर होना है;' उसी समय सिंह को जातिस्मरणज्ञान होता है, आँखों से आँसू बहने लगते हैं और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करके निराहार व्रत ग्रहण करता है।

(१८) श्री सीमंधर भगवान, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव, श्री कानजी स्वामी और श्रोतागण।

(१९) श्री सुकमालजी खिड़की में से मुनिराज के दर्शन करके नीचे उतरते हैं और मुनिराज से ऐसा सुनकर कि – 'मेरी आयु तीन दिन की शेष है' तुरन्त ही दीक्षित हो जाते हैं और वन में जाकर ध्यान करते हैं, वहाँ सियालनी उनका भक्षण करती है।

(२०) श्री शांतिनाथ भगवान पूर्व के पाँचवें भव में विदेहक्षेत्र में क्षेमंकर तीर्थंकर के पुत्र वज्रयुध चक्रवर्ती थे। इन्द्रसभा में उनके ज्ञान की प्रशंसा सुनकर एक देव परीक्षा लेने आता है और उनके ज्ञानसामर्थ्य को देखकर आश्चर्यचकित होता है तथा उनकी स्तुति करता है। तथा श्री शांतिनाथ भगवान पूर्व तीसरे भव में विदेहक्षेत्र में श्री धनाथ तीर्थंकर के पुत्र थे। वे प्रौषधोपवास करके वन में मेरु समान अचल होकर ध्यान करते हैं; तब इन्द्रसभा में उनके शील की प्रशंसा सुनकर दो देवियाँ परीक्षा करने आती हैं, और उनका शील देखकर वे आश्चर्यचकित होकर उन्हें नमस्कार करती हैं।

(२१) श्री सीताजी की अग्नि-परीक्षा के पश्चात् श्री रामचंद्रजी उनसे गृह पधारने के लिये कहते हैं; किन्तु वे उसका अस्वीकार करके अर्जिका बनती हैं।

(२२) पूर्वभव में जो श्रीकंठ राजा का भाई था, वह इन्द्र, देवों सहित अष्टाह्निका पर्व के दिनों में नंदीश्वर द्वीप को (श्रीकंठ राजा के महल के ऊपर से) जाता है, उसे देखकर श्रीकंठ राजा भी भक्तिवश होकर रानी सहित विमान द्वारा नंदीश्वरद्वीप की ओर जाते हैं, किन्तु मानुषोत्तर पर्वत

के निकट आते ही उनका विमान रुक जाता है, उससे वे वैराग्य धारण करके वहीं मुनि हो जाते हैं।

(२३) दुष्ट बलिराजा अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों को अग्नि का उपसर्ग करता है। श्री विष्णुकुमार मुनि वैक्रियाऋद्धि से ब्राह्मण का रूप धारण करके उस उपसर्ग को शांत करते हैं तथा उनसे बलिराजा क्षमा माँगता है।

(२४) राम-लक्षण-सीता वन में सुगुप्ति-गुप्ति मुनि नामक मुनियों को आहारदान देते हैं।

(२५) वेदधर्म की चर्चा करते हुए इन्द्रभूति को लेकर ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र, महावीर भगवान के समवसरण की ओर जाता है। मानस्तम्भ को देखते ही इन्द्रभूति का मान गलित हो जाता है और समवसरण के अन्दर प्रवेश करके वही गौतम गणधर बनते हैं।

(२६) अंजनचोर, सींके को काटकर प्राप्त की हुई विद्या के द्वारा अकृत्रिम चैत्यालय को जाता है, वहाँ जिनदत्त सेठ भी पूजा कर रहे हैं। पश्चात् वे दोनों मुनि के पास जाकर उपदेश श्रवण करते हैं, और अंजन मुनि होकर ध्यानमग्न होता है तथा केवलज्ञान प्राप्त करता है।

(२७) श्रीमद् राजचन्द्र (श्री सिद्धशिला ईडर का दृश्य)

(२८) सुभद्रा सेठानी ने चन्दनासती को सांकल से बाँध रखा है। यह भगवान महावीर को आहारदान देने की भावना भाती हैं; भावना करते-करते उसके बंधन खुल जाते हैं और चन्दनासती भगवान का पड़गाहन करके नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देती हैं, उस समय देव पुष्पवृष्टि करते हैं और पश्चात् चंदना अर्जिका होती हैं।

(२९) पाँचों पांडव शत्रुंजय पर्वत के ऊपर ध्यानमग्न मुनिदशा में स्थित हैं। वहाँ दुर्योधन का भानजा क्रोधाविष्ट होकर उन्हें लोहे के धगधगाते आभूषण (कड़े) पहिनाकर उपसर्ग करता है।

इसके अतिरिक्त श्रीमण्डप के मूल प्रवेशद्वार पर श्री कुन्दकुन्दप्रभु की एक सुन्दर कलायम, ध्यानस्थ, शांतमूर्ति बनाई गई है, उसका दृश्य सुन्दर एवं आकर्षक है।

यदि आप—

❁ जैनधर्म के सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहते हैं ?

❁ शाश्वत सुख का मार्ग जानना चाहते हैं ?

❁ यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझना चाहते हैं ?

तो

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर तथा अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन अवश्य पढ़िये :—

समयसार प्रवचन :— (प्रथम भाग) निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा। पृष्ठ ४८८, सजिल्द, मूल्य छह रुपया, डाकव्यय दस आना अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग :— अरिहंतदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन-ग्रन्थ। मूल्य दस आना डाकखर्च माफ।

मूल में भूल :— उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनात्मक ग्रन्थ। मूल्य बारह आना, डाकखर्च माफ।

मँगाने का पता—

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (काठियावाड़)

अनेकान्त मुद्रणालय
मोटा आंकड़िया (काठियावाड़)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०२-०२-४९
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड